श्री आवश्यक सूत्रम्

(श्रमण प्रतिक्रमण)

णमो सुअस्स

व्याख्याकार :
जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट
पूज्य श्री आत्माराम जी म.

प्रकाशक
श्री ऑल इंडिया श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस
12, जैन भवन, शहीद भगत सिंह मार्ग,
गोल मार्किट, नई दिल्ली

श्री आवश्यक सूत्रम्
व्याख्याकार : जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट पूज्य श्री आत्माराम जी म.

श्री महावीराय नम:॥

नमन संस्कृति का आधार

महामंत्र नवकार

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं

ऐसो पंच णमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।

।। जय महावीर ।। ।। णमो सुअस्स ।। ।। जय श्रमण संघ ।।

श्री आवश्यक सूत्रम्

श्रमण-प्रतिक्रमण

व्याख्याकार :

जैन धर्म दिवाकर, जैनागम रत्नाकर

आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज

संपादक :

पंजाब प्रवर्त्तक, उपाध्याय

पूज्य श्री फूलचन्द जी महाराज 'श्रमण'

मंगलमय-आशीष

ध्यानयोगी, युगपुरुष

आचार्य सम्राट् पूज्य श्री शिव मुनि जी महाराज

प्रकाशक :

श्री ऑल इण्डिया श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस
12, जैन भवन, शहीद भगत सिंह मार्ग, नई दिल्ली
फोन : 011-23363729, 23365420 मो. 7289900012
E-mail : aissjc1906@gmail.com
Website : www.jainconference.org

श्रुत संवर्धन समिति
प्रकाशन पुष्प - 3

पुस्तक	:	**श्री आवश्यक सूत्रम् (श्रमण प्रतिक्रमण)**
व्याख्याकार	:	जैन धर्म दिवाकर आगम रत्नाकर आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज
संपादक	:	पंजाब प्रवर्त्तक उपाध्याय पूज्य श्री फूलचन्द्र जी महाराज 'श्रमण'
मंगलमय- आशीष	:	ध्यानयोगी युगपुरुष आचार्य सम्राट् पूज्य श्री शिव मुनि जी महाराज
संस्करण	:	चतुर्थ, सितम्बर 2022
सहयोग राशि	:	100 रुपए मात्र
प्राप्ति स्थान	:	स्थानकवासी जैन धार्मिक साहित्य एवं उपकरण भण्डार (श्रुत संवर्धन समिति द्वारा स्थापित) श्री ऑल इण्डिया श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस 12, जैन भवन, शहीद भगत सिंह मार्ग, नई दिल्ली-110006
मुद्रक	:	कोमल प्रकाशन, दिल्ली मो. : 9210480385

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

समर्पण

आगम वाङ्मय के
महान व्याख्याता, आगम महोदधि
जैन धर्म दिवाकर, आचार्य सम्राट

पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज

एवं

स्वनामधन्य, पंजाब प्रवर्तक उपाध्याय

श्री फूलचन्द जी महाराज 'श्रमण'

आराध्य-द्वय के अदृष्ट पाणि-पल्लवों में
अनन्त आस्थाओं के साथ
सादर समर्पित।

त्वदीयं वस्तु तुभ्यमेव समर्पये।

-आचार्य शिव मुनि

श्रमणसंघ-नायक : संघ-सारथी

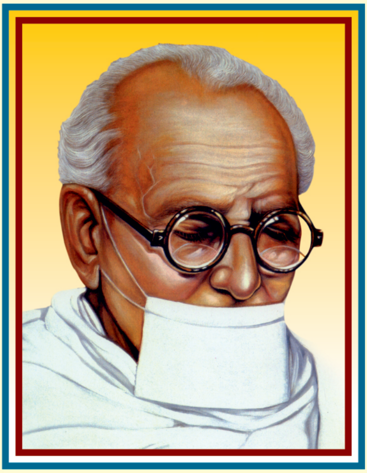

श्रमण संघ के प्रथम पट्टधर
जैनागम रत्नाकर आचार्य सम्राट
श्री आत्माराम जी महाराज

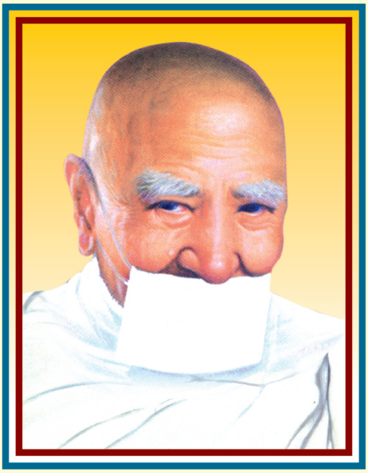

श्रमण संघ के द्वितीय पट्टधर
आनन्द महोदधि आचार्य सम्राट
श्री आनन्दऋषि जी महाराज

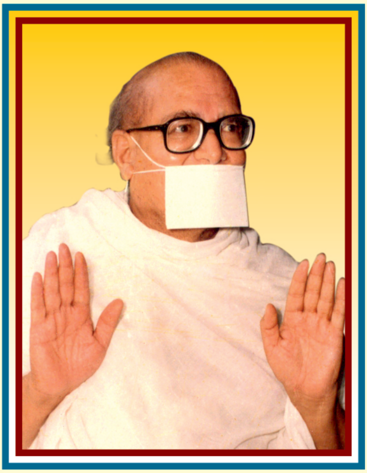

श्रमण संघ के तृतीय पट्टधर
साहित्य सुमेरु आचार्य सम्राट
श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज

श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर
ध्यानयोगी आचार्य सम्राट
श्री शिव मुनि जी महाराज

अध्यक्षीय उद्‌गार

श्री ऑल इण्डिया श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस के अंतर्गत 'श्रुत संवर्धन समिति' का गठन हुआ। इस समिति का लक्ष्य निर्धारित किया गया–समाज में श्रुत का प्रचार–प्रसार एवं अप्रकाशित साहित्य का प्रकाशन। समाज के छह प्रबुद्ध श्रावकों को इस समिति में सम्मानपूर्वक नियुक्त किया गया, जिनके नाम हैं–

- ❖ श्री रमेश भण्डारी जैन, इन्दौर (चेयरमैन)
- ❖ डॉ. अमित राय जैन, बड़ौत (संयोजक)
- ❖ श्री दिनेश जैन, चाँदनी चौक, दिल्ली
- ❖ श्री अतुल जैन, दिल्ली
- ❖ श्री प्रशांत महेश जैन, दिल्ली
- ❖ श्री सुधीर जैन, कोटा, राजस्थान

इस समिति के दिशा–निर्देशन में श्रुत–प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ हुआ और द्रुतगति से आगे भी बढ़ा। यह प्रसन्नता का विषय है कि 'श्री आवश्यक सूत्र' (श्रमण प्रतिक्रमण) नामक यह पुस्तक इस समिति के तत्वावधान में प्रकाशित होने वाला तृतीय प्रकाशन–पुष्प है। यह पुस्तक वर्तमान में अनुपलब्ध प्रायः थी। पूज्य साधु–साध्वी जी महाराज की ओर से इस पुस्तक की निरंतर माँग बनी हुई थी। उसी अपेक्षा की पूर्ति हेतु यह प्रकाशन किया गया है।

इस प्रकाशन यात्रा में श्री ऑल इण्डिया जैन कान्फ्रेंस के कार्यकारी महामंत्री श्री राजीव जैन का कीमती सहयोग भी जुड़ा हुआ है। इस प्रकाशन–यज्ञ से जुड़े सभी सहयोगियों के लिए बहुत–बहुत धन्यवाद!

–आनन्द मल छल्लाणी जैन

राष्ट्रीय अध्यक्ष

श्री ऑल इण्डिया श्वे.स्था. जैन कॉन्फ्रेंस

संयोजकीय-विमर्श

'श्री ऑल इण्डिया श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस' अखिल भारतीय स्तर पर स्थानकवासी जैन परम्परा की एक प्रतिष्ठित और प्राचीन संस्था है। शताधिक वर्ष पूर्व इस संस्था का गठन हुआ। लक्ष्य था–विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित स्थानकवासी साधु-संघों और श्रावक-संघों को एक सूत्र में बद्ध करना। इस संस्था ने अपने इस लक्ष्य को सफलतापूर्वक हस्तगत किया। परिणामस्वरूप अनेक संप्रदायों का विलय हुआ और सन् 1952 में सादड़ी की पुण्य भूमि पर महान श्रमण संघ का उदय हुआ। 'श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ' का आज जैन जगत में गौरवशाली स्थान है। समय-समय पर महान आचार्यों ने इस महान संघ को अपने कुशल नेतृत्व से सींचा और पल्लवित-पुष्पित किया। वर्तमान में चतुर्थ पट्टधर जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट् पूज्य श्री शिव मुनि जी महाराज के नेतृत्व में महान श्रमण संघ आध्यात्मिक क्षेत्र में शिखरों का स्पर्श कर रहा है।

श्री ऑल इण्डिया जैन कान्फ्रेंस ने संगठन से आगे बढ़कर सामाजिक उन्नयन के अन्य क्षेत्रों में कदम बढ़ाए। शिक्षा, चिकित्सा, साधर्मी-सहयोग से लेकर राष्ट्र और विश्व मंगल के कई अभियान इस संस्था के तत्वावधान में गतिशील हैं।

जैन कान्फ्रेंस के निर्देशन में दशकों पूर्व अर्वाचीन और प्राचीन साहित्य के प्रकाशन और प्रचार-प्रसार का मिशन प्रारंभ हुआ था। उसके अंतर्गत कई महत्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन भी हुआ जिन्हें जैन-जैनेतर जगत में बहुमान प्राप्त हुआ। उसी मिशन को विगत दिनों वर्तमान राष्ट्रीय अध्यक्ष श्री आनन्द मल जी छल्लाणी जैन के दिशा-दर्शन में त्वरापूर्वक आगे बढ़ाने का संकल्प लिया गया। फलस्वरूप 'श्रुत-संवर्धन समिति' का गठन किया गया।

श्रुत-संवर्धन समिति के अंतर्गत उपाध्याय प्रवर श्री रवीन्द्र मुनि जी म. के मार्गदर्शन में संचालित पुप्फ भिक्खु मुनि श्री फूलचन्द जैन शोध संस्थान, गुरुग्राम (हरियाणा), मेरे द्वारा सन् 1994 में संस्थापित शहजाद राय शोध संस्थान, बड़ौत (उ.प्र.) में संग्रहित प्राचीन दुर्लभ पाण्डुलिपियों, दस्तावेजों

एवं उत्तर भारत प्रवर्तक श्री सुभद्र मुनि जी म. के द्वारा प्रेरित महाप्राण मुनि श्री मायाराम जैन शोध संस्थान, पीतमपुरा, दिल्ली के दुर्लभ पाण्डुलिपि संग्रह के डिजिटाइजेशन का कार्य सम्पन्न हो चुका है। करीब पांच लाख प्राचीन पृष्ठों की डिजिटल कॉपी तैयार की गई है। इस महत्वपूर्ण कार्य का द्वितीय चरण स्कैन की गई पाण्डुलिपियों के सूचिकरण का कार्य गणी श्री वैराग्यरति विजय जी महाराज के कुशल मार्गदर्शन में श्रुत-भवन संस्थान पूना के विद्वान विशेषज्ञों द्वारा युद्धस्तर पर किया जा रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक

आवश्यक रूप से प्रतिदिन की जाने वाली साधना-आराधना के पाठ 'आवश्यक-सूत्र' में संकलित हैं। इस आगम की स्वाध्याय / आराधना प्रतिदिन प्रतिक्रमण के रूप में सुबह और शाम की जाती है। इसलिए यह आगम समस्त आगम-वाङ्मय में प्रमुख स्थान पर प्रतिष्ठित है।

विभिन्न धर्मों की अपनी-अपनी दैनिक पूजा-पद्धतियाँ हैं। जैन धर्म में भी दैनिक उपासना की आदिकालीन परम्परा है। इस उपासना-विधि का नाम है—'आवश्यक-आराधना।' आवश्यक आराधना में जैन साधक अपनी आत्मा की उपासना करता है। आत्मा पर लगे हुए विषय-विकारों के कल्मष को आवश्यक आराधना के माध्यम से दूर करता है। इस उपासना विधि से आत्मा निर्मल और निर्विकार होकर परमात्म-पद को उपलब्ध हो जाती है।

आवश्यक सूत्र के छह अंग हैं—(1) सामायिक, (2) चतुर्विंशति स्तव, (3) वन्दन, (4) प्रतिक्रमण, (5) कायोत्सर्ग, और (6) प्रत्याख्यान। ये छहों अंग विशिष्ट हैं। इनकी सम्यक् आराधना से आत्मा विभावों से मुक्त और सद्भावों से पुष्ट होती है। प्रत्येक जिनानुयायी के लिए—अथवा आत्म-कल्याणकामी मुमुक्षु के लिए आवश्यक सूत्र की दैनिक साधना-आराधना आवश्यक रूप से करणीय और आचरणीय है।

—डॉ. अमित राय जैन, बड़ौत
(संयोजक : श्रुत संवर्धन समिति)
मो.: 9837394448, 9997889995
e-mail : amitraijain78@gmail.com

प्राक्कथन

– वस्त्रों की शुद्धि के लिए, उनका प्रक्षालन किया जाता है।

– शरीर की शुद्धि के लिए, स्नान किया जाता है।

– इसी प्रकार जिनशासन परम्परा में आत्मा की शुद्धि के लिए षड् आवश्यक की आराधना की जाती है। षड् आवश्यक अर्थात् ऐसी छह आवश्यक क्रियाएं / साधनाएं जिनसे आत्मा पर छाए हुए कलिमल दूर होते हैं। इसे हम आत्म-स्नान भी कह सकते हैं। आवश्यक की आराधना से आत्मा निर्मल होती है और उसका शाश्वत परमात्म-स्वरूप उद्घाटित होता है।

'आवश्यक' के छह अंग हैं। सभी अंग महत्वपूर्ण हैं। परन्तु चतुर्थ अंग– 'प्रतिक्रमण' इनमें विशिष्ट है। 'प्रतिक्रमण' का अर्थ है–बाहर से भीतर लौट आना, 'पर' से सम्बन्ध-विच्छेद करके 'स्व' में केन्द्रित हो जाना। सभी बुद्ध-पुरुषों ने स्पष्ट घोषणा की है कि वास्तविक सुख, सौभाग्य और सम्पदा बाह्य संसार में नहीं, बल्कि व्यक्ति की अपनी आत्मा के भीतर मौजूद हैं। उस सौभाग्य और सुख-सम्पदा के अन्वेषण का राजमार्ग है–प्रतिक्रमण। 'प्रतिक्रमण' की वेला में साधक अपनी आत्मा का अवलोकन करता है, निरीक्षण-परीक्षण करता है, और आत्मा पर जहां-जहां कर्म रूपी मैल की परतें चढ़ी हैं, उनका प्रक्षालन करता है।

निरपेक्ष और शान्त भाव से अपनी भूलों को देखना, सरल हृदय से उन्हें स्वीकार करना और अन्ततः विनम्र भाव से क्षमापना-विधि से उन भूलों को अपनी आत्मा से अलग कर देना, यह प्रतिक्रमण का स्वरूप और अभिधेय है।

'प्रतिक्रमण' एक विशिष्ट साधना है, इसीलिए जैन परम्परा में आवश्यक सूत्र को 'प्रतिक्रमण' नाम से भी अधिक विश्रुति मिली है।

प्रतिक्रमण के दो भेद हैं–(1) श्रमण-प्रतिक्रमण, (2) श्रावक-प्रतिक्रमण। स्पष्ट है कि श्रमण की भांति श्रावक के लिए भी प्रतिक्रमण की आराधना करना आवश्यक है। बारह व्रती श्रावक प्रतिक्रमण द्वारा अपने व्रतों की शुद्धि करता है। व्रत-शुद्धि ही आत्म-शुद्धि भी है।

इस पुस्तक में श्रमण-प्रतिक्रमण (श्रमण आवश्यक सूत्र) को प्रस्तुत किया गया है। क्योंकि प्रत्येक श्रमण-श्रमणी की साधना का प्रतिक्रमण दैनिक अनिवार्य अंग है। अतः इस पुस्तक का सुलभ होना भी आवश्यक है। पुस्तक की सर्व-सुलभता बनी रहे, इसी तथ्य को दृष्टिपथ में रखते हुए यह प्रकाशन-यज्ञ रचा गया है।

आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज इस सूत्र के मूल व्याख्याकार हैं। पंजाब प्रवर्तक उपाध्याय श्रमण श्री फूलचन्द जी महाराज ने इसके विवेचन को विहंगम स्वरूप दिया। ध्यानयोगी आचार्य सम्राट् श्री शिव मुनि जी महाराज के संपादकत्व में इस सूत्र के तृतीय संस्करण का प्रकाशन सन् 2009 में सम्पन्न हुआ। वर्तमान में यह चतुर्थ संस्करण 'श्रुत संवर्धन समिति' द्वारा सम्पन्न किया जा रहा है।

श्री ऑल इण्डिया श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस के तत्वावधान में राष्ट्रीय अध्यक्ष श्री आनन्दमल जी छल्लाणी जैन के दिशा-दर्शन में 'श्रुत संवर्धन समिति' के प्रकाशन नित नूतन प्रतिष्ठा अर्जित करते रहेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

-राजीव जैन (सी.ए.)

राष्ट्रीय कार्यकारी महामंत्री

श्री ऑल इण्डिया श्वे.स्था. जैन कॉन्फ्रेंस

प्रस्तावना

जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज

आत्मविशुद्धि के लिये प्रतिक्रमण करने की अत्यन्त आवश्यकता है, इसी कारण इसे 'आवश्यक सूत्र' भी कहते हैं, यह अवश्य ही करने योग्य है। श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के शासन में इसके करने की प्रथा अनिवार्य है।

इस सूत्र के छः अध्याय हैं। जैसे कि–सामायिक, चतुर्विंशति–स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। प्रत्येक अध्ययन गंभीर अर्थों से भरा हुआ है, जिसका सविस्तर स्वरूप अनुयोगद्वारादि सूत्रों में देखना चाहिए।

यदि पूछा जाये कि इसे प्रतिक्रमण क्यों कहते हैं! इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि "जब आत्मा क्षयोपशम भाव से निकल कर उदय भाव में प्रविष्ट हो जाता है, फिर उस आत्मा को उदय भाव से हटाकर क्षयोपशम भाव में लाना, उसे ही प्रतिक्रमण कहते हैं, अर्थात् जब आत्मा सम्यग्मार्ग को छोड़ कर उन्मार्गगामी बन जाता है तब उसको उन्मार्ग से हटाकर सम्यग्मार्ग में लाना ही प्रतिक्रमण है। उक्तं च–

स्वस्थानाद्यत्परस्थानं प्रमादस्य वशङ्गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते॥1॥
क्षयोपशमिकाद् भावादौदयिकस्य वशंगतः।
तत्राऽपि च स एवार्थः प्रतिकूलगमात् स्मृतः॥2॥

उक्त कथन से यह भली–भांति सिद्ध हो गया कि प्रतिक्रमण का मुख्य अर्थ यही है कि औदयिक भाव से हटाकर आत्मा को क्षयोपशमिक भाव में स्थापन करना, अर्थात् सांसारिक वृत्तियों से हटा कर स्वस्वरूप में स्थित करना, यही प्रतिक्रमण का भाव है।

(प्रथम संस्करण से साभार)

भीतर लौटने का राजमार्ग : प्रतिक्रमण

जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट् पूज्य श्री शिव मुनि जी महाराज

एक साधक के लिए 'प्रतिक्रमण' आवश्यक रूप से की जाने वाली दैनिक आत्माराधना है। इसीलिए 'प्रतिक्रमण को 'आवश्यक' नाम प्रदान किया गया है। प्रतिक्रमण का भावार्थ है–

– बाहर से भीतर लौट आना।
– पर से स्व में लौट आना।
– मिथ्यात्व से सम्यक्त्व में लौट आना।
– अव्रत से व्रत में लौट आना।
– प्रमाद से अप्रमाद में लौट आना।
– कषाय से अकषाय में लौट आना।
– अशुभ योग से शुभ योग में लौट आना।
– कर्त्ता भाव से ज्ञाता-द्रष्टा भाव में लौट आना।

अपने भीतर लौटने की वैज्ञानिक विधि है प्रतिक्रमण। पर से स्व तक पहुंचने में जितनी भी बाधाएं हैं, उन बाधाओं को प्रतिक्रमण द्वारा दूर किया जाता है। प्रतिदिन दोनों संध्याओं में शान्त, एकान्त स्थान में बैठकर साधक प्रतिक्रमण की साधना के माध्यम से आत्म-स्वरूप में विहार करता है। स्वयं को देखता है। स्वयं का अन्वेषण-अनुसंधान करते हुए परीक्षण करता है कि मैं कहां-कहां शिथिल हुआ? कहां-कहां स्खलित हुआ? कहां-कहां असत्य और अशुभ में फिसला? कहां-कहां क्रोध-अहं और काम ने मुझे पराजित किया? और कहां-कहां छलादि शल्यों ने मेरी आत्मा को विद्ध किया?

उक्त प्रकार से साधक स्वयं का अवलोकन और आकलन करता है। स्वयं की शिथिलताओं और स्खलनाओं की कालिमा को पहचानकर प्रतिक्रमण रूपी शुद्ध जल से आत्मपट का प्रक्षालन करता है। स्वयं के भीतर देखे गए दोषों को दूर करने के लिए वह पुनः-पुनः आत्मसाक्षी से प्रतिज्ञा करता है–**तस्स मिच्छामि दुक्कडं।**

'तस्स मिच्छामि दुक्कडं' यह सूत्र प्रतिक्रमण का प्राण है। इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार है–

मि – मेरा
तस्स – वह

दुक्कडं – दुष्कृत्य
मिच्छा – मिथ्या हो।

यह किसी प्रकार का आदेश, प्रतिज्ञा या उद्घोष नहीं है। यह आत्मा का अपना अनुभव है। जब व्यक्ति जागरूकतापूर्वक पुनः-पुनः लौटकर अपनी जीवन-चर्या को देखता है तब जो-जो भी कृत्य प्रमादवश हुए, कर्त्ताभाववश हुए, फिर वे अच्छे भी हो सकते हैं, बुरे भी। दुनिया की भाषा में वह दान भी हो सकता है और चोरी भी। लेकिन जो भी हुआ मूर्च्छाभाव में हुआ। क्रोध, मान, माया एवं लोभ में बहकर हुआ। यह सब कुछ जब वह ज्ञाता-द्रष्टा भाव से पुनः देखता है तब वह सब कुछ स्वप्न-सा प्रतीत होता है। उसी का नाम है 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं।'

प्रतिक्रमण साधक के ज्ञाता-द्रष्टा भव को परिपक्व बनाता है। ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थित साधक की आत्मा पाप से पंकिल नहीं हो सकती। ज्ञाता- द्रष्टा भाव में स्थित साधक बाह्य जगत में घट रही घटनाओं से स्वयं को अस्पर्शित रखता है। लाभ के क्षण में वह हर्षित और अलाभ के क्षण में व्यथित नहीं होता। बाह्य घटनाएं उसे चलित नहीं कर पाती हैं।

हम आत्म-ध्यान एवं वीतराग सामायिक की साधना में भी साधकों को यही सिखाते हैं कि अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप को परिपक्व बनाओ। आत्म-ध्यान एवं वीतराग सामायिक प्रतिक्रमण से अलग नहीं हैं। जो प्रतिक्रमण में किया जाता है, शब्द-भेद से वही आत्म-ध्यान एवं वीतराग सामायिक में भी किया जाता है। इन तीनों साधनाओं का आत्यंतिक लक्ष्य है—स्वरूप में स्थित होना, ज्ञाता-द्रष्टा भाव में सतत रमण करना।

प्रस्तुत प्रतिक्रमण सूत्र के व्याख्याकार आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज एवं सम्पादक पंजाब प्रवर्त्तक उपाध्याय 'श्रमण' श्री फूलचन्द जी महाराज, ये दोनों आराध्य पुरुष प्रतिक्रमण के हार्द को हृदयंगम करके ज्ञाता-द्रष्टा भाव की उच्चतम भूमिका का स्पर्श कर चुके थे। विगत सदी का जैन जगत इनके साधना-स्नात श्रेय समन्वित महान जीवन का मुखर साक्षी है।

प्रस्तुत प्रतिक्रमण सूत्र पाठकों में ज्ञाता-द्रष्टा भावमयी साधना को वृद्धिंगत करेगा, ऐसी आशा है। अन्त में इसी मंगल मैत्री के साथ कलम को विराम दे रहा हूं कि आप आत्म-स्वरूप में लौटें, ज्ञाता-द्रष्टा भाव रूपी आत्मोद्यान में सतत विहार करें। यही प्रतिक्रमण साधना का उद्देश्य है और यही आत्मा का लक्ष्य भी है।

(तृतीय संस्करण से साभार)

भूमिका

षडावश्यक : एक चिन्तन

–पंडित श्री तिलकधर शास्त्री
(संपादक : आत्म रश्मि पत्रिका) लुधियाना, पंजाब

भारतीय इतिहास में सांस्कृतिक परम्परा के दो विभिन्न रूपों में दर्शन होते हैं–ब्राह्मण–परम्परा और श्रमण–परम्परा। यद्यपि दोनों परम्पराओं के जीवन–मूल्यों और जीवन–लक्ष्यों में बहुत अन्तर है, तथापि दोनों संस्कृतियों में 'श्रम' की महत्ता को एक स्वर से स्वीकार किया गया है। ब्राह्मण–संस्कृति की विकास–भूमि हैं वे 'आश्रम' जिनमें बैठ कर तपोमूर्ति महर्षि जीवन के लिये उपयोगी 'श्रम' करते थे और श्रम की शिक्षा देते थे।[1]

डा० विण्टरनीत्स का यह अन्वेषण विशेष महत्वपूर्ण प्रतीत होता है जिसके अनुसार उन्होंने लिखा है–"जिस 'श्रम्' धातु से 'श्रमण' शब्द बना है, उसी से 'आश्रम' शब्द भी निष्पन्न हुआ है। प्रारम्भ में आश्रम शब्द शायद श्रमणों के धार्मिक कृत्य का सूचक था। इसी कारण यह शब्द धार्मिक कृत्य का सूचक हुआ।[2]

विष्णु सहस्रनाम में विष्णु के सहस्रनामों की गणना के प्रकरण में **"आश्रमः श्रमणः क्षामः"** कह कर आश्रम और श्रमण के निकटस्थ सम्बन्ध को सूचित किया गया है, अतः दोनों संस्कृतियों में 'श्रम' की महत्ता निर्विवाद रूप से स्वीकार की गई है। यह बात ठीक है कि ब्राह्मण–संस्कृति का श्रम लौकिक उपलब्धियों के लिये है और श्रमणों का श्रम इस जीवन की सार्थकता और जीवन्मुक्ति के लिये–मोक्ष की उपलब्धि के लिये होता है।

आचार्य हरिभद्र सूरि कहते हैं–जो तप करता है वही 'श्रमण' है,[3] क्योंकि तप ही श्रम है।[4] श्रम धातु का दूसरा अर्थ खेद है, अतः सांसारिक विषयों

---

1. आ समन्तात् श्रमोऽत्रेत्याश्रमः। आश्रम–माध्यमेन जीवन–पर्यन्तमधिकाधिकः श्रम क्रियते। (डॉ० राम जी उपाध्याय, भारतस्य सांस्कृतिक–निधिः)
2. हिस्ट्री आफ ब्राह्मणिकल एसेटिसिज्म पृ० 14
3. श्राम्यतीति श्रमणः तपस्यतीत्यर्थः।
4. तपो हि श्रम उच्यते। –रविषेणः

में खिन्नता की अनुभूति करने वाला साधक ही श्रमण है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सांसारिक विषयों में खिन्नता की अनुभूति करते हुए तप रूप श्रम करने वाला विरक्त साधक ही श्रमण है।

"समयाए समणो होइ"[1] समभाव या शमभाव रखने वाला साधक ही श्रमण है। यह निर्देशिका परिभाषा 'श्रमण' के लिये 'समता' एवं 'शान्ति' गुणों को आवश्यक बताती है, इसलिये शान्त-मूर्ति वही साधक श्रमण है जो समता की साधना करते हुए सांसारिक विषयों में खिन्नता मानता हुआ तपोलीन रहता है। इसीलिये दशवैकालिक सूत्र में 'श्रमण' के स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है—

कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए-पए विसीदंतो, संकप्पस्स वसं गओ॥ **(2/21)**

जिसने कामनाओं पर विजय प्राप्त नहीं की वह कदम-कदम पर संकल्पों से खिन्न होता हुआ किस प्रकार 'श्रमणत्व' का पालन कर सकता है?

श्रमण का व्यक्तित्व :

श्रमण के महान् व्यक्तित्व में किन गुणों की अनिवार्यता है? अनुयोगद्वार सूत्र की एक गाथा में इसका निर्देश करते हुए कहा गया है—

उरग-गिरि-जलण-सागर-नहयल-तरुगण-समो अ जो होइ।
भमर-मिय-धरणि-जलरुह-रवि-पवण समो अ सो समणो॥

श्रमण के व्यक्तित्व में बारह विशेषतायें होनी चाहियें—

1. उरग-सम—परकृत निवास-स्थान में रहने के कारण वह सर्प के समान होता है।

2. गिरि-सम—दृढ़ता, स्थिरता एवं धैर्य की दृष्टि से अडिग गिरि के समान होता है।

3. ज्वलन-सम—तेजस्विता, तपोमयता एवं कषायों को जलाने की दृष्टि से अग्नि के समान होता है।

4. सागर-सम—मर्यादा में रहने, रत्नत्रय का भण्डार होने और गम्भीरता की दृष्टि से वह सागर के समान होता है।

---

1. उत्तराध्ययन 24, 31

5. नभस्तल-सम—वह विकृतियों से रहित और पराश्रयहीनता की दृष्टि से नभस्तल अर्थात् आकाश के समान होता है।

6. तरुगण-सम—सुख-दुख की अभिव्यक्ति न कर मौन रहने की दृष्टि से वह वृक्षों के समान होता है।

7. भ्रमर-सम—थोड़ा-थोड़ा मर्यादानुकूल आहार-पानी ग्रहण करने की दृष्टि से वह भ्रमर सम होना चाहिये।

8. मृग-सम—संसार-भीरुता की दृष्टि से वह मृग के समान होता है।

9. धरणि-सम—सर्व-सहिष्णु एवं क्षमाशीलता की दृष्टि से वह धरती के समान होता है।

10. जलरुह-सम—कमल के समान सर्वथा निर्लेप जीवन होने से वह जलरुह अर्थात् कमल के समान होता है।

11. रवि-सम—बिना किसी भेदभाव के सबको प्रकाशित करने के कारण वह सूर्य के समान होता है।

12. पवन-सम—सर्वत्र अप्रतिहत-गति होकर विहार करने के कारण श्रमण वायु के समान होता है।

प्रस्तुत गाथा में श्रमण के व्यक्तित्व की जिन विशेषताओं की ओर संकेत किया गया है, श्रमण सदैव उनकी रक्षा का प्रयास करता है। इसी प्रयास के अन्तर्गत है उसके द्वारा षडावश्यकों का पालन एवं आचरण।

आवश्यक क्या है?

हम जिस जगत में रहते हैं उसमें रहने के लिये किये जाने वाले व्यवहार के दो रूप हैं—बाह्य और आन्तरिक। बाह्य व्यवहार की दृष्टि से खाना-पीना, सोना-जागना, उठना-बैठना एवं जीविकोपार्जन आदि अनेकविध ऐसे कार्य हैं जिन्हें प्रतिदिन नियमित रूप से किये जाने के कारण 'आवश्यक' कहा जा सकता है, किन्तु प्रस्तुत विवेचना के समय हमें वे 'आवश्यक' अभीष्ट नहीं हैं, क्योंकि ऐसे आवश्यकों का अनुष्ठान तो पशु भी करते हैं।

आध्यात्मिक व्यवहार के क्षेत्र में 'आवश्यक' उस अनुष्ठान-विशेष को कहा जाता है जिसके करने से साधक कर्म-मल से मुक्त होकर स्वरूपावस्थिति को प्राप्त कर लेता है, जिससे वह मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त होने

की योग्यता सम्पादित करता है और जिसके द्वारा उसका जीवन धर्ममय बनकर आदर्श बन जाता है।

'आवश्यक' यह जैन संस्कृति का अपना विशेष शब्द है जो षड्विध उस धर्म-कृत्य के लिये प्रसिद्ध है जिस धर्म-कृत्य का अनुष्ठान साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका दोनों के लिये प्रातः-सायं करना अनिवार्य माना गया है। इसीलिये अनुयोगद्वार सूत्र में कहा गया है—

समणेण सावएण य, अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा।
अन्तो अहो निसस्स य, तम्हा आवस्सयं नाम॥

क्योंकि ये धर्मकृत्य प्रातःकाल और सायंकाल के समय श्रमणों एव श्रावकों (उपलक्षण से श्रमणियों एवं श्राविकाओं) द्वारा अवश्य करणीय होते हैं, अतः इन्हे 'आवश्यक' कहा जाता है।

प्राचीन आचार्य आवश्यक के दो भेद करते हैं—द्रव्य-आवश्यक और भाव-आवश्यक। आधुनिक भाषा में दिखावे के लिये भावना-रहित होकर किये जाने वाले धर्मानुष्ठान को द्रव्यावश्यक और प्रदर्शन की भावना से रहित, आत्मोद्धार के लिये, जीवन के उत्थान और चित्तवृत्तियों की निष्पापता एवं पवित्रता के लिये किये जाने वाले धर्मानुष्ठान को भाव-आवश्यक कह सकते हैं।

आवश्यक के छः भेद

वैसे तो 'आवश्यक' एक ही निरवद्य अखण्ड साधना है, किन्तु साधना-चरणों की क्रमशः पूर्ति की दृष्टि से आवश्यक के छह भेद किये जाते हैं—1. सामायिक, 2. चतुर्विंशति-स्तवन, 3. वन्दन, 4. प्रतिक्रमण, 5. कायोत्सर्ग और 6. प्रत्याख्यान।

वस्तुतः ये आवश्यक के भेद नहीं, अपितु आवश्यक रूप सुदीर्घ साधना के पड़ाव हैं, जिन्हें साधक सावधानी के साथ क्रमशः पार करता हुआ लक्ष्य-प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

1. सामायिक

"एकत्वेन अयनं—गमनं समयः, समयः प्रयोजनं यस्येति सामायिकम्।" अर्थात् समय का अर्थ है—अपनी आत्मा का समस्त पर-पदार्थों से हटकर

एकत्वभाव की ओर गमन और यही गमन जिसका प्रयोजन है उस साधना को 'समायिक' कहा जाता है।

'सम+आयः+इक्'–सामायिक–अर्थात् आत्मा की समताभाव में स्थिर होने की साधना ही सामायिक है।

'आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे' भगवती सूत्र में निर्दिष्ट इस व्याख्या के अनुसार शरीरादि से पृथक् होकर अपने शुद्ध रूप में अवस्थित आत्मा ही सामायिक है और अपनी शुद्ध सामायिक अवस्था में आना ही सामायिक साधना का प्रयोजन है।

उपर्युक्त व्याख्याओं से ज्ञात होता है कि 'सामायिक' जैन-साधना का अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्द है, यह वह आरम्भिक स्थल है जहां से साधना-पथ की यात्रा आरम्भ होती है, यह वह संगमस्थल है जहां सांसारिकता का महानद आध्यात्मिकता के महासमुद्र में विलीन होने के लिये मचल उठता है।

काल के उस असंख्यातवें भाग को समय कहा जाता है जिसके पुनः खण्ड न हो सकें। यदि ऐसे एक समय भर के लिये भी साधक को आत्म-रमण का आनन्द प्राप्त हो जाए तो वह समय ही सामायिक है।

मनुष्य अपने आत्म-स्वरूप से अपरिचित है। वह अपने अस्तित्व को ही भूला हुआ है। अस्तित्व की प्रतीति 'समय' पर ही अवलम्बित है। समय और अस्तित्व को एक ही कहा जा सकता है, क्योंकि समय के बिना अस्तित्व की अनुभूति असम्भव है और अस्तित्व को अनुभूति के बिना 'समय' का आभास ही नहीं हो सकता। आत्मा और समय दोनों अखण्ड तत्त्व हैं। "मैं था", "मैं हूं", "मैं होऊंगा"–यह सब खण्ड अनुभूतियां कल्पना-मात्र हैं। सच्ची और शाश्वत अनुभूति तो "मैं हूं", यही है। यह अनुभूति सार्वकालिक हो जाए, यही सामायिक-साधना का उद्देश्य है। इसीलिये **"आया सामाइए"** के स्वरों में भगवान् महावीर 'आत्मा' और 'समय' की एकता प्रतिपादित करते हैं।

समय क्षण का अन्तिम भाग है। यदि आत्मा इतनी-सी अवधि के लिये अपने वास्तविक रूप को समझ लेता है तो फिर वह निरन्तर उस आनन्द की अनुभूति के लिये तरसने लगता है, इसीलिये साधक प्रातः-सायं दो

घड़ियां ऐसी निकालता है जिनमें वह बार-बार उस अनुभूति का आनन्द प्राप्त करने का अभ्यास कर सके।

इसीलिये उत्तराध्ययन सूत्र में सामायिक का फल **"सावज्ज-जोगविरइं जणयइ"**—अर्थात् सामायिक करने वाले साधकों की चित्तवृत्तियां सावद्य कार्यों के योग से दूर हट जाती हैं, जब इधर से योग टूट जाता है तो स्वभावतः ही चित्तवृत्तियों का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। यह चित्तवृत्ति-निरोध एक-दूसरे योग को जन्म देता है, जिसे हम आत्म-योग कह सकते हैं। यह आत्मयोग ही तो सामायिक है।

शास्त्रकार यह भी कहते हैं कि सावद्य कर्मों से निवृत्ति और निरवद्य-कर्म में प्रवृत्ति सामायिक है **(सामाइयं नाम सावज्ज-जोग-विवज्जणं, निरवज्ज-जोग-पडिवज्जणं च)**। परन्तु यह केवल वहां तक के लिये कहा गया है जब तक कि आत्म-स्वरूप के महासागर में छलांग लगाने की तैयारी हो रही है, क्योंकि छलांग लगाने से पूर्व प्रत्येक तैराक सांसारिक व्यवहार के कपड़े उतार कर तूंबा, ट्यूब आदि लेकर छलांग लगाता है और तैरने का अभ्यास करता है, परन्तु तैरने का पूर्ण अभ्यास हो जाने पर वह सब कुछ छोड़ देता है, तब तो वह अपने भुजबल से ही तैरता है और उसी में उसे आनन्द आता है। इसी प्रकार आत्म-स्वरूप में छलांग लगाने का पूर्ण अभ्यास हो जाने पर पुण्य की भी आवश्यकता नहीं रह जाती—यही अवस्था पाप और पुण्य दोनों से मुक्त होकर "समत्व-योग" की स्थिति बन जाती है और इसी अवस्था को लक्ष्य में रख कर कहा जाता है—"समत्व में स्थिर होने का नाम ही सामायिक है।''

शास्त्रकारों ने सामायिक के छह भेद माने हैं, जैसे कि—

1. **नाम-सामायिक**—सुन्दर-असुन्दर अच्छे-बुरे शब्दों में समता।

2. **स्थापना-सामायिक**—मकान, मन्दिर आदि स्थापित पदार्थों में समता।

3. **द्रव्य-सामायिक**—सोना और मिट्टी आदि सभी द्रव्यों में समदृष्टि।

4. **क्षेत्र-सामायिक**—राज-मार्ग और पगडण्डी एवं सुन्दर उद्यान तथा कण्टकाकीर्ण भूमि में समानता का भाव।

5. **काल-सामायिक**—वर्षा, शीत एवं ग्रीष्म आदि में समता।

6. भाव-सामायिक—पूर्ण समदर्शिता।

इनमें पहले पांच भेद छठे भेद—भाव-सामायिक की भूमिकायें मात्र हैं। अभ्यास-भूमियां हैं, इन अभ्यास-भूमियों को पार करता हुआ साधक भाव-साम्य की उत्तम भूमि में प्रवेश करके आत्म-उन्मुख हो जाता है।

2. चतुर्विंशति-स्तवन

षडावश्यकों में प्रमुख साधना सामायिक ही है, शेष पांच भेद सामायिक-साधना की सिद्धि एवं पूर्णता के लिये पूरक साधना हैं।

सामायिक साधना के लिये—समदर्शिता प्राप्त करने के लिये सर्व-प्रथम दर्शन-विशुद्धि की आवश्यकता होती है। चतुर्विंशति-स्तवन दर्शन-विशुद्धि का मूल-भूत कारण है।[1]

भगवान् श्री ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। यह काल इतना लम्बा है जिसकी विस्तार-सीमाओं के निर्देश के लिये अरबों वर्षों की सीमायें भी कम रह जाती हैं। इस लम्बी काल सीमा में तीर्थंकर देव हुए और जीवन-सत्यों और जीवन के प्राप्तव्यों की उपलब्धि के लिये एक मार्ग बनाते चले गए।

ये तीर्थंकर मानवता के चरम-शिखर हैं, ज्ञान की अन्तिम सीमायें हैं, इनका निर्बन्ध अस्तित्व, इनकी अरूप सत्ता आज भी विद्यमान है, अपने दिव्य रूप में। तीर्थंकरों के उसी दिव्य रूप से सम्बन्ध जोड़कर कर्म-बन्धनों में बंधी आत्मा को अपने निर्बन्ध स्वरूप का ज्ञान कराना ही तीर्थंकर-स्तवन है।

स्तवन का अर्थ प्रशंसा नहीं है, और न ही इसका अर्थ किसी दैवी-सत्ता के गुणों का गान करके हमें कोई चापलूसी ही करनी होती है। स्तवन का वास्तविक आशय है ध्यान की वह सर्वसमर्थ प्रक्रिया जिसमें हमारी समस्त मनोवृत्तियां चारों ओर से सिमट कर केन्द्रीभूत हो जाती हैं और दिव्य आत्माओं के दिव्य तेज से आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित करके स्व-रूप को समझते हुए, आत्मा के वास्तविक शुद्ध स्वरूप को पहचान कर साधक की आत्मा अपनी तेजस्विता के दिव्य स्रोत खोल देती है।

---

1. चउव्वीसत्थएणं दंसण-विसोहिं जणयइ। उत्तरा. 29/9

ध्यान-साधना के समय हमारा अन्तर्जगत उधर ही प्रवृत्त होना चाहिये जिधर बढ़ने के लिये हम साधना कर रहे होते हैं। हमें बढ़ना उधर ही है जिधर चौबीस तीर्थंकर बढ़े हैं, अतः ध्यान में तीर्थंकर-मार्ग हमारे सामने होना चाहिये। तीर्थंकर-मार्ग पर पहुंचते ही तीर्थंकरों की दिव्य सत्ता से हमारा सम्बन्ध स्थापित होने लग जाता है और हमारा सांसारिक आकर्षण टूटने लगता है और सिद्धलोक का आकर्षण बढ़ने लगता है।

यह निश्चित ही है कि ध्यान बहुत देर तक एक आश्रय पर टिक नहीं पाता, अतः मन के लिये अनेक आयाम होने चाहियें—अनेक आलम्बन होने चाहियें, जिससे मन ऐसे बढ़ता जाये जैसे सीढ़ियां चढ़ता जा रहा हो। चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन सिद्धालय की सीढ़ियां बन जाता है और मन उत्तरोत्तर दिव्य सत्ता का आश्रय लेकर ऊपर उठता जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे अपने प्राप्तव्य की ओर बढ़ने की मन की आदत पक्की होती जाती है और वही देखने की आदत बन जाती है जो हमें देखना चाहिये। ध्यानावस्था में फिर हम केवल उसी को देखते हैं जो सत्य है, स्वयं बुद्ध है, पुरुषोत्तम है, पुरुषवर-पुण्डरीक है, लोकोत्तम है, लोकनाथ है, लोक-प्रद्योतकर है, धर्म-सारथी है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है और यही देखना ही तो चतुर्विंशति-स्तवन का लक्ष्य है। जिस दिन साधक यही देखने लग जाता है उस दिन उसे वह दर्शन-विशुद्धि प्राप्त हो जाती है जिसके द्वारा सामायिक-साधना पूर्ण हो सकती है।

स्तवन का लक्ष्य है समर्पण और समर्पण की पूर्णता तभी हो सकती है जब आत्मा अहंभाव से मुक्त हो जाये। अहं से मुक्ति तभी हो सकती है जब हम ध्यान-साधना में अपने को ऐसे लीन कर दें जैसे नमक की डली अपने को पानी में विलीन कर देती है। चतुर्विंशति-स्तवन की पूर्णता भी तभी है जब हम अपने को तीर्थंकर-गुण-गान के सागर में इतना विलीन कर दें कि हमें अपनी बाह्य सत्ता का आभास ही न रह जाये, हम उन लोक-प्रद्योतकर सत्ताओं के समस्त गुणों को अपने अस्तित्व में ही देखने लग जायें, केवल देखने ही न लग जायें, अपितु हमारी आत्मा से उन गुणों का इस प्रकार प्रकटीकरण होने लगे जैसे सूर्य से प्रकाश प्रकट होता है—हम स्वयं प्रकाश के दिव्य स्रोत बन जायें।

जब तक हम तीर्थंकर-गुणों को देखकर आत्मबोध प्राप्त करने का प्रयास

कर रहे होते हैं तब तक तो "दर्शन" की स्थिति होती है और जब हम स्वयं अपनी शुद्ध-बुद्ध प्रकाशमयी निर्बन्ध सत्ता के रूप में परिणत होकर अपने को देखने लगते हैं वही दर्शन-विशुद्धि है और इसका महानतम साधन है चतुर्विंशति-स्तवन।

3. वन्दन

'वन्दन' का अर्थ है—किसी के समक्ष झुक जाना, किसी के चरणों पर मस्तक रख देना और साथ ही यह भाव प्रकट कर देना कि आप की तरफ से मुझे जो शिक्षा एवं ज्ञान-राशि प्राप्त होगी उसे मैं सादर स्वीकार करूंगा, क्योंकि ज्ञान की प्राप्ति का साधन वन्दन को ही बताया गया है—**तद्विद्धि प्रणिपातेन**—उस ज्ञान-राशि को वन्दन द्वारा प्राप्त करो! यही महापुरुषों का आदेश है।

'वन्दन' हृदय-घट को खाली करने की प्रक्रिया है। जब तक घट सीधा है, तब तक वह खाली नहीं हो सकता और खाली किये बिना घट में और कुछ भरा नहीं जा सकता। घट को खाली करने के लिये उसका सिर पृथ्वी पर टिका दीजिये वह खाली हो जाएगा। संसारी लोगों के हृदय-घट अहंकार से लबालब भरे रहते हैं, अतः उनमें ज्ञान-राशि को भरा नहीं जा सकता, इसलिये हृदय-घट को औंधा करने के लिये सिर को झुकाना ही होगा और हृदय-घट से अहंकार के मैल को निकालने के लिये 'वन्दन' ही आवश्यक है।

'वन्दन' का अभ्यास बचपन से ही आरम्भ होता है। माता-पिता को वन्दन, आयु-वृद्धों को वन्दन, शिक्षक को वन्दन और गुरु को वन्दन—ये सब वन्दन के अभ्यास हैं। धीरे-धीरे यह वन्दन का अभ्यास जब बढ़ जाता है तब वन्दन का आधार-क्षेत्र विराट् हो जाता है। उस दशा में **'नमो लोए सव्वसाहूणं'** एवं **'सियाराममय सब जग जानी, करौं प्रणाम जोरि जुग पानी'**—के भाव उद्बुद्ध हो जाते हैं।

'मत्थएण वन्दामि'—सिर झुका कर नमस्कार करता हूं—इस वाक्य में सिर झुकाने में अहंकार का विगलन है और 'वन्दामि' में अपने आप को ज्ञान-ग्रहण करने के योग्य कह कर समर्पण किया जाता है।

वन्दना की झोली फैलाये बिना महापुरुषों की मंगल-भावना की अतुल सम्पदा को पाया ही नहीं जा सकता।

'गुरु-वन्दन' साधना-क्षेत्र की प्रथम सीढ़ी है। यहां से शिष्य अध्यात्म-पथ के प्रकाश के लिये अपने को गुरु-चरणों में अर्पित कर अहं-शून्य होने का प्रयास करने लग जाता है और इस प्रकार वन्दन-फल के रूप में अहंकार शून्य होकर नीच-गोत्र कर्म का क्षय करके, उच्च-गोत्र-कर्म का अधिकारी बन जाता है। उच्च वही है जो किसी की हीनता नहीं देखता, किसी की क्षुद्रताओं की ओर ध्यान नहीं देता। वह फूलों की गणना करता है, कांटों की नहीं, वह समुद्र की विशालता और गम्भीरता को देखता है, खारेपन को नहीं। उसके हृदय से ऐसा अक्षय स्नेह-स्रोत उमड़ पड़ता है कि वह सबके लिये सम्माननीय बन जाता है, सब उस की आज्ञा-पालन में गौरव समझने लगते हैं।

भगवान् महावीर वन्दन का फल-**'दाहिणभावं च णं जणयइ'**-(उत्तरा० 29/10) कहकर दाक्षिण्य बताते हैं। दाक्षिण्य शब्द के दो अर्थ हैं-चातुर्य और अनुकूलता। वन्दनशील साधक जीवन-यात्रा के साधनों से मुक्त होकर आत्म-समाधि में लीन होता चला जाता है-सामायिक में पहुंचता जाता है। यही उस का दाक्षिण्य है और उसने मानव-भव को सफल बना लिया, इस से अधिक उसका और चातुर्य क्या हो सकता है?

शरीर-विज्ञान की दृष्टि से भी वन्दन की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि चिकित्सा-विज्ञान कहता है कि हृदय पर दबाव पड़ते ही रोगी का सिर नीचा कर देना चाहिये, इससे उसकी हृदयगति शीघ्रता से स्वाभाविक गति में आ जाती है, अतएव महर्षि मनु ने 'वन्दनशील' की आयु बढ़ने का सिद्धान्त स्थिर किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं 'सामायिक' में जिस समदर्शिता की साधना की जाती है उसके लिये अहंशून्यता अनिवार्य है और अहंशून्यता की विधायक सफल प्रक्रिया है-'वन्दन'।

4. प्रतिक्रमण

सामायिक-साधना के लिये तीसरी अनिवार्य साधना है प्रतिक्रमण। वस्तुतः तीर्थंकरों के पुण्य-स्मरण-पूर्वक गुरुजनों द्वारा आत्म-ज्ञान का मार्ग प्राप्त

कर पहले प्रतिक्रमण करने पर ही 'सामायिक' साधना का आरम्भ होता है।

प्रतिक्रमण है लौट आना। हमारी चेतना का स्थान वस्तुतः हमारे अन्दर है, बाहर नहीं। हमने अपनी चेतना को फैलाकर बाहरी संसार पर अधिकार जमाने की अनधिकृत चेष्टा की हुई है जो कि हिंसा है। जब साधक अपनी चारों ओर फैली हुई चेतना को ऐसे ही समेट लेता है जैसे सायंकाल के समय सूर्य अपनी किरणों को समेट लिया करता है, तब उसकी समेटने की यह प्रक्रिया ही प्रतिक्रमण कहलाती है। बाह्य संसार से वापिस लौट आना कठिन नहीं, किन्तु वापिस लौट कर फिर अन्दर ही टिके रहना कठिन है, अत्यन्त कठिन है। अन्तर् में टिके रहना ही आत्मलीनता है और वह आत्म-लीनता प्रतिक्रमण के माध्यम से सामायिक द्वारा ही प्राप्त की जाती है।

प्रतिक्रमण सामायिक साधना का महत्त्वपूर्ण अंग है। इस में साधक प्रातः-सायं यह देखता है कि मैंने बाह्य संसार में ही नहीं आन्तरिक संसार में भी जहां-जहां अपनी सत्ता न होते हुए भी अपनी सत्ता की अनुभूति की थी, शरीर को, इन्द्रियों को, मन को अपना रूप समझने की भूल की थी, क्या मैं उस भूल के स्थल से वापिस लौटा हूं या नहीं? असंयम से, बन्धन से, विराधना से, शल्यों से, काम-गुणों से, भय-स्थानों से, मदस्थानों से, अब्रह्म-स्थानों से आदि अनेकविध दुश्चरणों से मैं वापिस लौटा हूं या नहीं? क्या मैंने 'पर' से सम्बन्ध तोड़ कर आत्मस्थिति प्राप्त की है या नहीं? वह प्रतिक्रमण-साधना करते समय समस्त पर-पदार्थों का ऐसे ही त्याग कर देता है जैसे प्रभात होते ही पक्षी अपना घोंसला छोड़ देता है, जैसे बच्चे खेल समाप्त होते ही अपने ही हाथों से बनाए रेत के उन घरौंदों को अपने ही पैरों से खुद ही तोड़कर सानन्द घर चले जाते हैं, जिन्हें वे बड़े परिश्रम से तैयार करते हैं। सर्वथा असंग होकर आत्म-अवस्थिति ही प्रतिक्रमण है। आत्म-अवस्थिति ही 'सामायिक' है, अतः प्रतिक्रमण सामायिक का ही एक अंग है।

प्रतिक्रमण होते ही चेतना इन्द्रियों से सम्बन्ध तोड़ लेती है, अतः इससे आस्रव-निरोध हो जाता है, संवर-साधना हो जाती है, चारित्र एवं सम्यक्त्व-साधना दृढ़ होने लगती है, समितियों-गुप्तियों के पालन की प्रवृत्ति सहज हो जाती है और सहज-समाधि सुलभ हो जाती है।

'प्रतिक्रमण' जैन-संस्कृति की ही एक विशिष्ट साधना-प्रक्रिया है जिसके अन्यत्र कहीं पर भी दर्शन नहीं होते।

5. कायोत्सर्ग

प्रतिक्रमण की प्रक्रिया पूर्ण होते ही 'कायोत्सर्ग' की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। कायोत्सर्ग का सामान्य अर्थ तो है 'काया का त्याग', परन्तु इसका अर्थ मृत्यु नहीं है। मृत्यु में जीव को शरीर का त्याग करना पड़ता है, वह उसका त्याग नहीं चाहता, जीव शरीर को पकड़े रहना चाहता है, परन्तु कर्म-विधान उसे शरीर छोड़ने के लिये मजबूर कर देता है। उस समय संघर्ष होता है, और यह संघर्ष जीव के लिये अत्यंत कष्टकारी बन जाता है।

कायोत्सर्ग में जीव स्वेच्छा से शरीर का त्याग कर देता है, वह शररर में रहते हुए भी उससे भिन्नता एवं सम्बन्ध-हीनता की अनुभूति करने लग जाता है। वह एक तरह से अलग खड़ा हो कर शरीर की जड़ता का तमाशा देखने लगता है।

बारह प्रकार के तपों में 'कायोत्सर्ग तप' का शिखर है, इसी में तप की पूर्णता है। इसी तप में सामायिक साधना की पूर्णता है, क्योंकि इसी दशा में पहुंच कर आत्मा का-**"समणोऽहं, संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मो, अनियाणो, दिट्ठी-संपन्नो, माया-मोस-विवज्जिओ"**-अर्थात् मैं श्रमण हूं, संयमी हूं, विरक्त हूं, पाप-कर्मों को विनष्ट करने वाला और त्यागने वाला सम्यक्-दृष्टि हूं, मैं छल-कपट एवं असत्य से मुक्त हूं। यह अनुभूति होने लगती है।

ध्यान-साधना में जीव और शरीर की भिन्नता का ज्ञान और दर्शन होता है और कायोत्सर्ग में उस ध्यान के क्रियात्मक रूप को परखा जाता है, इसी परख को चारित्र कहा जाता है। इसी चारित्र की पूर्णता पर ज्ञान, दर्शन और चारित्र की साधना पूर्ण कर जीव मोक्ष-मार्ग का पथिक बन जाता है।

मृत्यु के अनन्तर जीव चाह कर भी इस शरीर में पुनः प्रवेश नहीं कर सकता। तब जीव शरीर-मोह से व्याकुल हो उठता है और वासना की डोर से बंधा हुआ जीव कर्मगति के अनुरूप किसी अन्य शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। किन्तु कायोत्सर्ग में वासना समाप्त हो जाती है, शरीर का मोह टूट जाता

है और जीव आयुष्य-कर्म के क्षय तक शरीर में उसी प्रकार निर्लेप होकर रहता है, जैसे कमल-पत्र पानी में रहता है। इस अवस्था में शरीर और जीव का कोई योग शेष नहीं रह जाता, आत्मा स्वरूपावस्थान की स्थिति प्राप्त कर शारीरिक अनुभूतियों से अलग हो जाती है। इसी अवस्था में भगवान् महावीर के कानों में कीलियां ठुक गईं, किन्तु उन्हें उनकी प्रतीति भी न हुई। होती भी कैसे? वे तो शरीर से अलग हो चुके थे। पांवों पर हंडिया पकाई गई, किन्तु महावीर पांवों के जलने की अनुभूति से अलग ही रहे।

इस प्रकार कायोत्सर्ग वह तप-शिखर है, जहां पर पहुंच कर आत्मा शारीरिक बन्धनों एवं भोगों से मुक्त हो जाता है, जहां वह शरीर के स्वामित्व का परित्याग कर देता है और ज्योति-पथ पर **'सुहं-सुहेण विहरइ'**– सुख-पूर्वक विचरण करता है।

6. प्रत्याख्यान

षडावश्यक का यह अंग दीखने में अन्तिम है, परन्तु वास्तविकता में पहला है, क्योंकि सामायिक का सम्बन्ध अन्तर् तप से है और प्रत्याख्यान का सम्बन्धन बाह्य तप से है।

प्रत्याख्यान का अर्थ है त्याग, बाह्य वस्तुओं का, खान-पान का एवं अन्य जीवनोपयोगी साधनों का। इस त्याग में सर्वत्र आगारों को प्रमुखता दी गई है, क्योंकि मनुष्य की शक्ति एवं स्मृति सीमित है और वह भूलों का पुतला है। भूलें हो जाती हैं, यह स्वाभाविक है, परन्तु भूल की स्वीकृति कठिन कार्य है। प्रत्याख्यान करने वाला साधक भूलों को सहर्ष स्वीकार करता है, उनके लिये प्रायश्चित्त ग्रहण करने में आनाकानी नहीं करता।

सामायिक साधना के लिये समुद्यत त्यागी साधक अन्त में इतना दृढ़ हो जाता है कि वह काया का त्याग करने में भी आनन्द मानने लगता है, वह संलेखना-व्रती होकर ऐसा कायोत्सर्ग करता है कि फिर वह सदा-सदा के लिये काया के बन्धनों से मुक्त हो जाता है, अथवा ऐसी काया धारण करता है जिसको पाकर वह फिर अपनी सामायिक-साधना के अभ्यास की पुनरावृत्ति कर सके और पुनः-पुनः कदम-कदम बढ़ता हुआ मोक्षगामी बन सके।

मैं समझता हूं कि 'प्रत्याख्यान' सामायिक साधना का प्रथम-चरण है। इस पड़ाव को पार कर साधक चौबीस तीर्थंकरों को आदर्श मान कर, गुरु द्वारा आत्मबोध प्राप्त कर, प्रतिक्रमण करता हुआ कायोत्सर्ग की स्थिति में सामायिक की साधना कर मानव-जन्म को सफल बनाता है।

प्रस्तुत षडावश्यक (श्रमण-प्रतिक्रमण) में निर्दिष्ट साधना-क्रम के अध्ययन द्वारा मुझे जो उपलब्धि हुई है, वह वर्णनानीत है। मैं समझता हूं यह साधना वर्ण्य-विषय नहीं, अनुभूतिगम्य ज्ञान है। फिर भी जैन धर्म-दिवाकर जैनागम-रत्नाकर आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने षडावश्यक सूत्र का मुमुक्षु जनों के लिये बोधगम्यता की दृष्टि से हिन्दी अनुवाद किया था जो लाहौर से प्रकाशित हुआ था, परन्तु अब वह अलभ्य-सा हो गया था और साथ ही वर्तमान समय के अनुरूप उसके पुनः सम्पादन की महती आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की उपाध्याय 'श्रमण' श्री फूलचन्द्र जी महाराज ने विद्वद्रत्न श्री रतन मुनि जी महाराज के सहयोग से जो पूर्ति की है, वह साधु-साध्वी समाज के लिये एक अनुपम वरदान है।

शब्दार्थ, सरलार्थ और भावार्थ में पर्याप्त संशोधन-परिवर्धन के साथ मुद्रित यह आवश्यक सूत्र बहुत उपयोगी हो गया है और साथ ही परिशिष्ट के रूप में प्रदत्त-ज्ञान-धारा ने इसके रूप को और भी ग्रहणीय बना दिया है।

मैं आशा करता हूं कि श्रमण-श्रमणीवृन्द इससे लाभान्वित होगा।

(प्रथम संस्करण से साभार)

अनुक्रमणिका

- ❖ अध्यक्षीय उद्‌गार (iii)
- ❖ संयोजकीय-विमर्श (iv)
- ❖ प्राक्कथन (vi)
- ❖ प्रस्तावना (viii)
- ❖ भीतर लौटने का राजमार्ग : प्रतिक्रमण (ix)
- ❖ षडावश्यक : एक चिन्तन (भूमिका) (xi)

1. प्रथम आवश्यक : सामायिक 1

- ❖ गुरु-वन्दन सूत्र 1
- ❖ आलोचना सूत्र 2
- ❖ उत्तरीकरण सूत्र 4
- ❖ चतुर्विंशति जिन-स्तव सूत्र 5
- ❖ स्तव-स्तुति-मंगल-पाठ 8
- ❖ नमस्कार-मंत्र 10
- ❖ सामायिक आवश्यक 13
- ❖ संक्षिप्त प्रतिक्रमण-सूत्र 14
- ❖ श्रुतज्ञान के चौदह अतिचारों की आलोचना 16
- ❖ दर्शन-अतिचार-आलोचना 18
- ❖ **चारित्र-अतिचार-आलोचना 19**
- ❖ ईर्या-समिति-अतिचार-आलोचना 19
- ❖ भाषा-समिति-अतिचार-आलोचना 19
- ❖ एषणा-समिति-अतिचार-आलोचना 20
- ❖ निक्षेपणा-समिति-अतिचार-आलोचना 20
- ❖ परिष्ठापनिका समिति-अतिचार-आलोचना 21

❖ **गुप्ति-विषयक अतिचार** **22**
❖ मन-गुप्ति-अतिचार-आलोचना 22
❖ वचन-गुप्ति-अतिचार-आलोचना 22
❖ काय-गुप्ति-अतिचार-आलोचना 23
❖ **षट्काय-विषयक अतिचार** **23**
❖ पृथ्वीकाय-विषयक अतिचारों की आलोचना 23
❖ अप्काय-विषयक अतिचारों की आलोचना 24
❖ तेजस्काय-विषयक अतिचारों की आलोचना 24
❖ वायुकाय-विषयक अतिचारों की आलोचना 25
❖ वनस्पतिकाय-विषयक अतिचारों की आलोचना 25
❖ द्वीन्द्रिय-जीव अतिचार-आलोचना 25
❖ त्रीन्द्रिय-जीव अतिचार-आलोचना 26
❖ चतुरिन्द्रिय-जीव अतिचार-आलोचना 26
❖ पंचेन्द्रिय-जीव अतिचार-आलोचना 27
❖ सत्य-महाव्रत विषयक अतिचार-आलोचना 27
❖ अदत्तादान-महाव्रत विषयक अतिचार-आलोचना 28
❖ ब्रह्मचर्य-महाव्रत विषयक अतिचार-आलोचना 28
❖ अपरिग्रह-महाव्रत विषयक अतिचार-आलोचना 29
❖ रात्रि-भोजन विषयक अतिचार-आलोचना 29
❖ सामूहिक अतिचार-आलोचना 30
❖ तैंतीस आशातनाओं की आलोचना 30
❖ अठारह पाप-स्थानकों की आलोचना 30
❖ मूलगुण-उत्तरगुण विषयक सामूहिक आलोचना 31
❖ सामूहिक अतिचार आलोचना 32
❖ श्रुत-अतिचार आलोचना 32

2. द्वितीय आवश्यक : चतुर्विंशति-स्तव **34**
❖ चतुर्विंशति जिन-स्तव सूत्र 34

3. **तृतीय आवश्यक : वन्दना** **35**

4. **चतुर्थ आवश्यक : प्रतिक्रमण** **40**

❖ सामायिक सूत्र 41
❖ मंगल सूत्र 41
❖ सामूहिक-आलोचना 44
❖ ईर्यापथिक-सूत्र 45
❖ शय्या-सूत्र 45
❖ गोचरी-चर्या-सूत्र 48
❖ काल-प्रतिलेखना सूत्र 52
❖ असंयम-बन्धन-दण्ड-गुप्ति-शल्य-गौरव-विराधना सूत्र 54
❖ कषाय-संज्ञा-विकथा-ध्यान-सूत्र 58
❖ क्रिया-कामगुण-महाव्रत-समिति-सूत्र 62
❖ जीव निकाय एवं लेश्या-सूत्र 65
❖ अनेकविध-प्रतिक्रमण सूत्र 67
❖ तेंतीस आशातना-सूत्र 72
❖ जिन-धर्म-स्तुति 74
❖ महामहिम-जिनधर्म सूत्र 76
❖ जिन-धर्म-विशेष-आदर-सूत्र 77
❖ प्रतिज्ञा-सूत्र 78
❖ आत्म-स्मरण सूत्र 81
❖ नमस्कार-सूत्र 82
❖ क्षमापना-सूत्र 84
❖ पूर्णता-सूत्र 85
❖ परमेष्ठी-वन्दना 87
❖ अरिहंत-वन्दना 87
❖ सिद्ध-वन्दना 88
❖ आचार्य-वन्दना 89

❖ उपाध्याय-वन्दना 89
❖ साधु-वन्दना 90
❖ गुरु-वन्दना 91
❖ सामूहिक वन्दना 92

5. पंचम आवश्यक : कायोत्सर्ग 94
❖ कायोत्सर्ग-सूत्र 94

6. षष्ठ आवश्यक : प्रत्याख्यान 96
1. नमस्कार पूर्वक मुहूर्त्त-प्रत्याख्यान 96
2. एक प्रहर-पौरुषी प्रत्याख्यान 98
3. सार्ध पौरुषी प्रत्याख्यान 99
4. पूर्वार्ध (पुरिमड्ढ) प्रत्याख्यान-सूत्र 100
5. निर्विकृतिक प्रत्याख्यान सूत्र 100
6. एकासन युक्त विगय-प्रत्याख्यान 103
7. एकासन प्रत्याख्यान-सूत्र 104
8. एक स्थान-प्रत्याख्यान-सूत्र 106
9. आयम्बिल प्रत्याख्यान-सूत्र 107
10. उपवास (चउविहार) सूत्र 108
11. तिविहार उपवास सूत्र 109
12. पानाहार पौरुषी-प्रत्याख्यान सूत्र 110
13. दिवस-चरिम (चतुर्विध आहार) प्रत्याख्यान-सूत्र 111
14. अभिग्रह-सूत्र 111
15. देशावकाशिक अभिग्रह सूत्र 112
16. अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना-सूत्र 113

❖ नमस्कार सूत्र 114
❖ आलोचना-सूत्र 114

7. परिशिष्ट (प्रतिक्रमण : अनेक रूप) 119

❖ प्रतिक्रमण : अनेकरूप 120

1.	असंयम-प्रतिक्रमण	120
2.	बन्धन-प्रतिक्रमण	120
3.	दण्ड-प्रतिक्रमण	120
4.	अगुप्ति-प्रतिक्रमण	120
5.	शल्य-प्रतिक्रमण	121
6.	गौरव-प्रतिक्रमण	122
7.	विराधना-प्रतिक्रमण	122
8.	कषाय-प्रतिक्रमण	123
9.	संज्ञा-प्रतिक्रमण	124
10.	विकथा-प्रतिक्रमण	125
11.	ध्यान-प्रतिक्रमण	125
12.	क्रिया-प्रतिक्रमण	126
13.	कामगुण-प्रतिक्रमण	126
14.	महाव्रत-प्रतिक्रमण	127
15.	समिति-प्रतिक्रमण	127
16.	छः जीव-निकाय-प्रतिक्रमण	129
17.	लेश्या-प्रतिक्रमण	129
18.	भय-स्थान-प्रतिक्रमण	130
19.	मद-स्थान-प्रतिक्रमण	130
20.	ब्रह्मचर्य-गुप्ति-प्रतिक्रमण	131
21.	श्रमण-धर्म-प्रतिक्रमण	132
22.	उपासक-प्रतिमा-प्रतिक्रमण	132
23.	भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिक्रमण	134
24.	क्रियास्थान-प्रतिक्रमण	135
25.	भूतग्राम प्रतिक्रमण	136
26.	परमाधार्मिक-प्रतिक्रमण	136
27.	गाथा-षोडषक प्रतिक्रमण	137

28. सप्तदशविध असंयम 137
29. अब्रह्म–प्रतिक्रमण 138
30. ज्ञाताध्ययन–प्रतिक्रमण 138
31. असमाधि–प्रतिक्रमण 139
32. शबल–दोष–प्रतिक्रमण 140
33. परीषह–प्रतिक्रमण 141
34. सूत्रकृतांगाध्ययन–प्रतिक्रमण 141
35. देव–प्रतिक्रमण 142
36. भावना–प्रतिक्रमण 142
37. छेद–सूत्रोल्लंघना प्रतिक्रमण 143
38. अनगार–गुण–प्रतिक्रमण 143
39. आचार–प्रकल्प 144
40. उनतीस पापश्रुत–प्रसंग–प्रतिक्रमण 145
41. तीस महामोह स्थान–प्रतिक्रमण 146
42. सिद्धों के अतिशयपूर्ण 31 गुण 148
43. बत्तीस योग–संग्रह 149
44. तेंतीस आशातना–प्रतिक्रमण 151
45. पिण्डैषणा के सात भेद 159
46. गोचरी के 42 दोष 160
47. ग्रासैषणा के पांच दोष 163
48. आहार ग्रहण करने के छह कारण 163

❖ भाव प्रतिक्रमण 164

❖ समाधि–भावना 166

॥ णमोऽत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

श्री आवश्यक सूत्रम्

(श्रमण-प्रतिक्रमण)

प्रथम आवश्यक : सामायिक

विधिः सामायिक आवश्यक की आज्ञा लेने से पूर्व गुरु महाराज को 'तिक्खुत्तो' के पाठ के साथ वन्दना-नमस्कार करें।

गुरु-वन्दन सूत्र

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि,
वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि,
कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं
पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि॥1॥

शब्दार्थ—**तिक्खुत्तो**—तीन बार, **आयाहिणं**—गुरु महाराज की दाईं ओर से लेकर, **पयाहिणं**—प्रदक्षिणा, **करेमि**—करता हूं, **वंदामि**—स्तुति करता हूं, **णमंसामि**—नमस्कार करता हूं, **सक्कारेमि**—सत्कार देता हूं, **सम्माणेमि** —सम्मान देता हूं, वे गुरुदेव कैसे हैं?, **कल्लाणं**—कल्याणकारी, **मंगलं**—मंगलकारी, **देवयं**—धर्म देव, **चेइयं**—ज्ञानवंत, सो मैं, **पज्जुवासामि**—ऐसे गुरु महाराज की मन, वचन, काया से सेवा करता हूं और, **मत्थएण**—मस्तक झुकाकर, **वंदामि**—वंदन करता हूं।

भावार्थ—उक्त सूत्र में यह वर्णन किया गया है कि गुरु महाराज के दक्षिण की ओर से लेकर तीन प्रदक्षिणा करके नमस्कार करे और गुरु महाराज को सन्मानादि भली प्रकार से देवे। मस्तक झुका कर वंदना करे। '**तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं**' ये दो सूत्र वंदना के विधि-विधानकर्त्ता हैं और '**करेमि**' जो कि संस्कृत भाषा में 'करोमि' शब्द उत्तम पुरुष का एक वचन है, वहां से ही वंदना करने का मूल सूत्र जानना चाहिए।

विधि–इस सूत्र के द्वारा गुरु महाराज की तीन बार वंदना करके चतुर्विंशति-जिनस्तव की आज्ञा लेकर सर्वप्रथम अहिंसा की विशुद्धि के लिये निम्नलिखित सूत्र पढ़े।

आलोचना सूत्र

इच्छाकारेण संदिसह भगवं! इरियावहियं पडिक्कमामि। इच्छं। इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए, गमणागमणे पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे, ओसा-उत्तिंग-पणग-दग-मट्टी-मक्कडा संताणा-संकमणे, जे मे जीवा विराहिया, एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया ठाणाओ ठाणं संकामिया, जीवियाओ ववरोविया। जो में देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।2।।

शब्दार्थ–**इच्छाकारेण**–अपनी इच्छापूर्वक, **संदिसह**–आज्ञा दीजिए, **भगवं**–हे महाभाग्यवान्! **इरियावहियं**–जो चलने के समय हिंसादि क्रिया हुई है, उस क्रिया से मैं, **पडिक्कमामि**–पीछे हटता हूं, अर्थात् हिंसादि क्रियाओं से निवृत्ति करता हूं, (तब गुरु कहते हैं कि–**पडिक्कमह**–हे शिष्य! सावद्य क्रियाओं से शीघ्र ही पीछे हटो।) तब शिष्य कहता है, **इच्छं**–आपकी आज्ञा मुझे स्वीकार है और मैं भी यही, **इच्छामि**–इच्छा करता हूं[1], **इरियावहियाए**–मार्ग में चलते समय जो मेरे से बिना उपयोग, **विराहणाए**–विराधना हुई हो, तो मैं उस विराधना से, **पडिक्कमिउं**–निवृत्ति करता हूं, जो विराधना, **गमणागमणे**–आने-जाने से हुई हो, **पाणक्कमणे**–किसी प्राणी पर आक्रमण हो गया हो, **बीयक्कमणे**–बीजों के ऊपर, **हरियक्कमणे**–सचित्त वनस्पतियों के ऊपर, **ओसा**–ओस के ऊपर, **उत्तिंग**–कीड़ियों के भवनों के ऊपर, **पणग**–पांच प्रकार की वनस्पति[2],

1. ये सब सूत्र सामायिक-कर्त्ता के विनय के सूचक हैं।
2. निगोद आदि सूक्ष्म वनस्पतियां पांच वर्णो की होती हैं, वे पांच वर्ण इस प्रकार हैं–
   1. कृष्ण, 2. पीत, 3. रक्त, 4. हरित, 5. श्वेत।

दग–पानी, **मट्टी**–अथवा सचित्त मृत्तिका के ऊपर, **मक्कडा**–मकड़ी के, **संताणा**–जाले के ऊपर, **संकमणे**–आक्रमण हुआ हो, **जे**–जो, **मे**–मेरे से, **जीवा**–जीवों का उक्त विधि से नाश हुआ हो जैसे कि–**विराहिया**–विराधना हुई हो (किन जीवों की), **एगिंदिया**–एकेन्द्रिय जीव, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा वनस्पति, **बेइंदिया**–द्वीन्द्रिय जीव जैसे गंडोया आदि, **तेइंदिया**–त्रीन्द्रिय जीव जैसे कुंथुआ, जूं, लीख आदि, **चउरिंदिया**–चतुरिन्द्रिय जीव जैसे मच्छर आदि, **पंचिंदिया**–पंचेन्द्रिय जीव जैसे कि जलचर, स्थलचर, खेचर आदि जातियों के पंचेंद्रिय जीव, **अभिहया**–सन्मुख आते हुए बिना उपयोग पीड़ित हुए हों, **वत्तिया**–उनके ऊपर रज पड़ गई हो, **लेसिया**–भूमि में मसले गए हों, **संघाइया**–इकट्ठे किए गए हों, **संघट्टिया**–परस्पर संघट्टित किए गए हों, **परियाविया**–उन्हें परितापना हुई हो, **किलामिया**–मैंने पीड़ा दी हो, **उद्दविया**–उन जीवों को भयभीत किया हो, **ठाणाओ ठाणं**–एक स्थान से दूसरे स्थान पर, **संकामिया**–संक्रमण कराया हो, और मेरे द्वारा, **जीवियाओ**–जीव की जो आयु है, **ववरोविया**–उससे व्यपरोपित हुए हों अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो गये हों, **जो**–जो, **मे**–मैंने, **देवसि**–दिन संबंधी, **अइयारो**–कोई अतिचार, **कओ**–किया हो, **तस्स**–मैं उन अतिचार संबंधी दोषों से, **मिच्छामि दुक्कडं**–पीछे हटता हूं, अतः मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।2।।

भावार्थ–उक्त सूत्र में प्रथम तो प्रतिक्रमणकर्त्ता का विनयधर्म व्यक्त होता है, फिर प्रतिक्रमण करने वाला जीव यह विचार करता है कि मैंने जो प्रतिक्रमण करने के लिए गमनागमन किया है, यदि वे गमनागमन क्रियायें करते हुए कोई भी जीव मेरे द्वारा बिना उपयोग दुःखित हुआ हो, अथवा रक्षा करते-करते भी मेरे से मृत्यु को प्राप्त हो गया हो और मैंने उसको किसी प्रकार की पीड़ा दी हो तो मैं उस पाप की निवृत्ति के लिये पश्चात्ताप करता हूं।

विधि–साधु उक्त सूत्र को पढ़कर फिर कायोत्सर्ग की शुद्धि के वास्ते '**तस्स उत्तरीकरणेणं**' का पाठ पढ़े–

उत्तरीकरण सूत्र

तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं, विसोहिकरणेणं, विसल्लीकरणेणं, पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए, ठामि काउसग्गं। अन्नत्थ ऊससिएणं, नीससिएणं, खासिएणं, छीएणं, जंभाइएणं, उड्डुएणं, वायनिसग्गेणं, भमलीए, पित्तमुच्छाए, सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं, सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं, सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं, एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो, अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो। जाव अरिहंताणं भगवंताणं णमोक्कारेणं न पारेमि, ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि।

शब्दार्थ–**तस्स**–पुनः आत्मा की शुद्धि के लिए, **उत्तरीकरणेणं**–प्रधान कृत्य करने के लिए, **पायच्छित्तकरणेणं**–पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए, **विसोहिकरणेणं**–आत्मा को विशुद्ध करने के लिए, **विसल्लीकरणेणं**–आत्मा के साथ लगे हुए माया आदि शल्यों को दूर करने के लिए, **पावाणं**–पाप, **कम्माणं**–कर्मों का, **निग्घायणट्ठाए**–नाश करने के लिए, **ठामि**–एक ही स्थान पर, **काउसग्गं**–कायोत्सर्ग करता हूं, किन्तु, **अन्नत्थ**–इतना विशेष है कि, **ऊससिएणं**–ऊंचे श्वास के आने पर, **नीससिएणं**–नीचे श्वास के होने पर, **खासिएणं**–खांसी के होने पर, इसी प्रकार **छीएणं**–छींक आने पर, **जंभाइएणं**–उबासी आने पर, **उड्डुएणं**–डकार आने पर, **वाय-निसग्गेणं**–अधोवायु के निकलने पर, **भमलीए**–चक्कर आने पर, **पित्तमुच्छाए**–पित्त के उछलने पर, **सुहुमेहिं**–सूक्ष्म, **अंगसंचालेहिं**–अंगों का संचालन होने पर, **सुहुमेहिं**–सूक्ष्म, **खेलसंचालेहिं**–श्लेष्म अर्थात् कफ के चलने पर, **सुहुमेहिं**–सूक्ष्म, **दिट्ठिसंचालेहिं**–दृष्टि के संचालन पर, **एवमाइएहिं**–इत्यादि अन्य स्वाभाविक क्रियाओं से यदि मेरा शरीर ध्याना-वस्था में कंपायमान हो जाए तो मेरा ध्यान, **अभग्गो**–भंग न होगा, **अवि-राहिओ**–विराधित न होगा, किन्तु इन प्रतिज्ञाओं सहित, **हुज्ज**–होवे, **मे**–मेरा, **काउस्सग्गो**–कायोत्सर्ग। इस कायोत्सर्ग का काल-परिमाण निम्न प्रकार से है जैसे कि–**जाव**–जब तक मैं, **अरिहंताणं**–श्री अरिहंतों को, **भगवंताणं**–भगवंतों को, **णमोक्कारेणं**–नमस्कार न करूं, तब तक, **न**

पारेमि–(कायोत्सर्ग को) पूर्ण न करूं, **ताव**–तब तक, **कायं**–शरीर को, **ठाणेणं**–एक स्थान में रखूंगा और, **मोणेणं**–मौनवृत्ति में तथा, **झाणेणं**–एकाग्र ध्यानवृत्ति में, **अप्पाणं**–अपनी आत्मा को अथवा अपनी आत्मा से पाप कर्म को, **वोसिरामि**–छोड़ता हूं।

भावार्थ–उक्त सूत्र में यह विधान किया गया है कि पाप-कर्मों का नाश करने के लिये साधक ध्यान करे और जो आगार सूत्र में वर्णन किए गए हैं उनके बिना ध्यान में स्वयं काय का संचालन न करे।

साधक को चाहिये कि वह जब तक '**नमो अरिहंताणं**' ऐसा पाठ न पढ़े तब तक ध्यान में ही स्थिर रहे।

इस प्रकार उक्त सूत्र में आत्मा की विशुद्धि के लिए ध्यान-विधि प्रतिपादित की गई है।

विधि–मुनि ध्यानावस्था में निम्नलिखित सूत्र का चिन्तन करे–

चतुर्विंशति जिन–स्तव सूत्र

लोगस्स उज्जोयगरे[1], धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं[2], चउवीसंपि केवली॥1॥

उसभमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे॥2॥

सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल-सिज्जंस वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि॥3॥

कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमि जिणं च।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च॥4॥

---

1. टाण–शस्येत् टादेशे णे शसिच् परे अस्य एकारो भवति। टाण वच्छेण शसवच्छे–वृक्षान्। इसी प्रकार लोगस्स उज्जोयगरे रूप बनता है। ऐसा आगे भी जानना चाहिए।
2. इस्सं। प्रा०व्या०अ० 8। पा० 3। सू० 161।
   धातो परस्य भविष्यति काले म्यादेशस्य स्थाने इस्सं वा प्रयोक्तव्यः, कित्त-इस्सं इत्यादि।

एवं मए अभित्थुआ, विहुय-रय-मला पहीणजरमरणा।
चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु॥5॥
कित्तिय वंदिय महिया[1], जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्ग-बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु॥6॥
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवर-गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु॥7॥

शब्दार्थ—**लोगस्स**—लोक में, **उज्जोयगरे**—उद्योत करने वाले और, **धम्मतित्थयरे**—धर्मरूपी तीर्थ को स्थापित करने वाले, **जिणे**—राग-द्वेष को जीतने वाले, **अरिहंते**—ऐसे जो श्री अरिहंत हैं, **कित्तइस्सं**—उनकी कीर्ति करता हूं[2], **चउवीसंपि**—और ऋषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकरों के नाम लेकर उनकी स्तुति करता हूं। अपि शब्द से अन्य जिनेन्द्रों का भी ग्रहण करना। वे 24 तीर्थंकर कैसे हैं, **केवली**—केवलज्ञान के धारक हैं, **उसभ**—ऋषभदेव जी को, **अजियं च**—और अजितनाथ जी को, **वंदे**—वन्दन करता हूं, **संभवं**—संभवनाथ जी को, **अभिणंदणं च**—और अभिनंदन जी को, **सुमइं**—सुमतिनाथ जी को, **च**—और, **पउमप्पहं**—श्री पद्मप्रभ जी को, **सुपासं**—श्री सुपार्श्वनाथ जी को, **जिणं**—राग-द्वेष के जीतने वाले, **च**—और, **चंदप्पहं**—चंद्रप्रभ जी को, **वंदे**—वंदना करता हूं, **सुविहिं**—सुविधिनाथ जी को, **च**—और जिनका द्वितीय नाम, **पुप्फदंतं**—पुष्पदंत जी है उनको, **सीअल**—शीतलनाथ जी को, **सिज्जंस**—श्रेयांसनाथ जी को, **वासुपुज्जं**—वासुपूज्य स्वामी जी को, **च**—और, **विमल**—विमलनाथ जी को, **अणंतं**—अनंतनाथ जी को, **च**—और, **जिणं**—राग-द्वेष के जीतने वाले, **धम्मं**—धर्मनाथ जी को, **संतिं**—शांतिनाथ जी को, **वंदामि**—वंदना करता हूं, **कुंथुं**—कुंथुनाथ जी को, **अरं**—अरहनाथ जी को, **च**—और, **मल्लिं**—मल्लिनाथ जी को, **वंदे**—वंदना करता हूं, **मुणिसुव्वयं**—मुनिसुव्रत स्वामी जी को, **नमिजिणं**—नमिनाथ जी को, **च**—और, **वंदामि**—

1. 'आवश्यक चूर्णी' में महिया (महिताः) के स्थान पर 'मए' [मया] पाठ है और हेमचन्द्राचार्य्यकृत योगशास्त्र में 'मइआ' (मयका-मया) पाठान्तर है।
2. ये सब व्यवहारनय के मत से प्रार्थना रूप वचन हैं।

वंदना करता हूं, **रिट्ठनेमिं**–अरिष्टनेमि जी को, **पासं**–पार्श्वनाथ जी को, **तह**–तथा, **वद्धमाणं च**–वर्द्धमान जी को अर्थात् श्री महावीर जी को वंदना करता हूं, **च**–पादपूरणार्थक है, **एवं मए**–इस प्रकार से मैंने, **अभित्थुआ**–उन अरिहंतों की स्तुति की है, **विहुय-रय-मला**–जिन्होंने दूर की है, कर्मों की रज तथा मल, **पहीण**–क्षय कर दिया है, **जरमरणा**–जरा और मृत्यु को, ऐसे जो, **चउवीसंपि**–चौबीस तीर्थंकर हैं, अथवा अन्य केवली भगवान् हैं, वे सब, **जिणवरा**–जिनवर, **तित्थयरा**–तीर्थंकर देव हैं, **मे**–मेरे ऊपर, **पसीयंतु**–प्रसन्न हों, **कित्तिय**–मेरे द्वारा कीर्तित, **वंदिय**–वंदित और, **महिया**–पूजनीय हैं[1], **जे**–जो, **ए**–यह प्रत्यक्ष, **लोगस्स**–लोक में, **उत्तमा**–उत्तम, **सिद्धा**–सिद्ध हैं, **आरुग्ग**–रोगरहित निर्मल ऐसा जो सिद्धभाव है, **बोहिलाभं**–बोध-बीज सम्यक्त्व का और, **समाहि**–समाधि, **वर उत्तमं**–जो उत्तम है वह मुझको, **दिंतु**–देवें, **चंदेसु**–चन्द्रमाओं से भी, **निम्मलयरा**–अधिक निर्मल हैं, और, **आइच्चेसु**–सूर्यों से भी अत्यन्त, **पयासयरा**–प्रकाश करने वाले हैं, **सागरवर**–सर्वतोमहान सागर की तरह, **गंभीरा**–अधिक गंभीर हैं, **सिद्धा**–जिनके सब कार्य सिद्ध हो चुके हैं, वे सिद्ध प्रभु, **सिद्धिं**–मुक्ति, **मम**–मुझ को, **दिसन्तु**–दें।

भावार्थ–इस सूत्र में जो सम्यक्त्व की विशुद्धि के लिए चौबीस तीर्थंकरों के नाम दिये गए हैं उनका मुनि ध्यान करे और उनके महान गुणों का यथाशक्ति अनुकरण भी करे, क्योंकि प्रतिक्रमण में मुख्यतया समाधि की ही आवश्यकता होती है।

जो प्रार्थना के पाठ हैं, वे भी शीघ्र ही आत्मबोध देने वाले हैं, जैसे कि 'जिन' ध्यान करते-करते वर्ण-विपर्यय करने से 'निज' ध्यान हो जाता है।

इसी प्रकार धर्मसाधना में की गई 'स्तुति' आत्म-समाधि को हो पुष्ट करती है, अर्थात् प्रार्थना इस प्रकार से समाधि देती है जैसे चिन्तामणि रत्न अभ्युदय के इच्छुक की इच्छा पूरी कर देता है।

विधि–इस सूत्र का ध्यान करके फिर '**नमो अरिहंताणं**' आदि पाठ पढ़कर, फिर वही पाठ एक बार ऊंचे स्वर से पढ़े।

---

1. महिङ् धातु पूजा एवं वृद्धि अर्थ में व्यवहृत है, सो इस स्थान पर भावपूजा का ही विधान है।

अब बैठकर दक्षिण जानु भूमि पर रखकर वाम जानु ऊंचा करके पुनः हाथ जोड़कर निम्नलिखित सूत्र पढ़े–

स्तव–स्तुति–मंगल–पाठ

णमोऽत्थु णं अरिहंताणं, भगवंताणं, आइगराणं, तित्थयराणं, सयं-संबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं, पुरिसवरपुंडरीयाणं, पुरिसवरगंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहियाणं, लोगपईवाणं, लोगपज्जोयगराणं, अभयदयाणं, चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं, सरणदयाणं, जीवदयाणं, बोहिदयाणं, धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवरचाउरंत- चक्कवट्टीणं, दीवो-त्ताणं-सरण-गइ-पइट्ठाणं, अप्पडिहय- वरनाण-दंसणधराणं, वियट्टछउमाणं, जिणाणं याणं, तिण्णाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहियाणं, मुत्ताणं मोयगाणं, सव्वण्णूणं, सव्वदरिसीणं, सिवमयल-मरुअ-मणंत-मक्खय मव्वाबाह-मपुणरावित्ति सिद्धिगइं नामधेयं ठाणं संपत्ताणं, नमो जिणाणं जियभयाणं॥5॥

शब्दार्थ–नमोऽत्थु–नमस्कार हो, **णं**–पाद-पूर्ति के लिये है, **अरिहंताणं**–श्री अरिहन्तों को, **भगवंताणं**–भगवंतों को, **आइगराणं**–धर्म की आदि करने वालों को, **तित्थयराणं**–चतुर्विध संघरूप तीर्थ के संस्थापकों को, **सयं संबुद्धाणं**–जिनको स्वयमेव बोध हुआ है, **पुरिसुत्तमाणं**–पुरुषों में उत्तम, **पुरिससीहाणं**–पुरुषों में सिंह समान, **पुरिसवर-पुंडरीयाणं**–पुरुषों में पुण्डरीक कमल समान निर्लेप, **पुरिस**–पुरुषों में, **वर**–प्रधान, **गंधहत्थीणं**–गंधहस्ती समान, **लोगुत्तमाणं**–लोक में उत्तम, **लोगनाहाणं**–लोक के नाथ, **लोगहियाणं**–लोक के हितैषी, **लोगपईवाणं**–लोक में प्रदीप के समान, **लोगपज्जोयगराणं**–लोक में परम उद्योत करने वाले, **अभयदयाणं**–अभयदान देने वाले[1], **चक्खुदयाणं**–ज्ञानरूपी नेत्रों के

1. ये सभी पद षष्ठ्यन्त हैं।

देने वाले, **मग्गदयाणं**–मोक्ष-मार्ग को बतलाने वाले, **सरणदयाणं**–सर्व जीवों के लिये शरण दाता, **जीवदयाणं**–संयमरूपी जीवन के दाता, **बोहिदयाणं**–बोधि-बीज को देने वाले, **धम्मदयाणं**–धर्म का उपदेश करने वाले, **धम्म देसयाणं**–धर्मोपदेशक, **धम्मनायगाणं**–धर्म के नायक अर्थात् धर्म-नेता, **धम्मसारहीणं**–धर्म रूपी रथ के सारथी, **धम्मवर**–धर्म में प्रधान, **चाउरंत**–चार गतियों का अंत करने वाले, अर्थात् अपनी आत्मा को चार गतियों से मुक्त करने वाले, **चक्कवट्टीणं**–चक्रवर्ती के समान धर्मचक्रवर्ती, **दीवोत्ताणं**–संसाररूपी समुद्र में द्वीप समान रक्षक, **सरण-गइ-पइट्ठाणं**–शरणागतों के रक्षक एवं आधारभूत, **अप्पडिहय**–अप्रतिहत ऐसे, **वर**–प्रधान, **णाण**–ज्ञान, **दंसण**–दर्शन के, **धराणं**–धारण करने वाले, **वियट्ट**–दूर हो गया है जिनका, **छउमाणं**–छद्मस्थभाव अर्थात् घाती कर्म नष्ट हो गए हैं, **जिणाणं**–और जिन्होंने राग-द्वेष को जीता है, **जावयाणं**–सभी को राग-द्वेष के जीतने का उपदेश करने वाले हैं, **तिण्णाणं**–संसार रूपी सागर से आप तर गए हैं, **तारयाणं**–औरों को तारते हैं, **बुद्धाणं**–स्वयं बुद्ध हो गए हैं, **बोहियाणं**–औरों को बोध देते हैं, **मुत्ताणं**–स्वयं कर्मों से मुक्त हो गए हैं तथा अन्य साधकों को, **मोयगाणं**–कर्मों से मुक्त कराते हैं, **सव्वण्णूणं**–सर्वज्ञ हैं, **सव्वदरिसीणं**–सर्वदर्शी हैं, **सिवं**–कल्याणरूप, **अयलं**–अचल, **अरुयं**–रोगरहित, **अणंतं**–अनंत ज्ञानादि से, **अक्खयं**–अक्षय, **अव्वाबाहं**–बाधा-पीड़ादि से रहित अर्थात् दुःखादि से मुक्त, **अपुणराविक्तिं**–जिनकी अपुनरावृत्ति है, अथवा जहां पहुंचने पर पुनर्जन्म नहीं होता है, ऐसी जो, **सिद्धिगई**–सिद्धि गति, **नामधेयं**–नाम वाले, **ठाणं**–स्थान अर्थात् मोक्ष को, **संपत्ताणं**–जो संप्राप्त हुए हैं, ऐसे अरिहन्तों को जिन्होंने कर्मरूपी शत्रुओं को जीता है, **नमो जिणाणं**–जिन भगवान् को नमस्कार हो, **जियभयाणं**– जिन्होंने सब भयों को जीत लिया है।

भावार्थ–यह स्तव-स्तुति का पाठ दो बार पढ़ना चाहिये, परन्तु दूसरी बार अन्त में '**संपताणं**' के स्थान पर '**संपाविउकामाणं नमो जिणाणं जियभयाणं**' यह पाठ पढ़ना चाहिये।

इस स्तव-स्तुति में जो आत्माएं मुक्त हो गई हैं या मुक्त होने वाली हैं, उन सबकी स्तुति की गई है। उनके गुणों का मुनि यथा-शक्ति अनुकरण करे, क्योंकि स्तुति करने का तात्पर्य यही होता है कि वे गुण स्वयं भी ग्रहण किए जाएं। जिस प्रकार रागद्वेषादि अन्तरंग कर्म-शत्रुओं को जीत कर वे अर्हत् हुए हैं, इसी प्रकार समस्त भव्य प्राणियों को होना चाहिये।

विधि–फिर **'तिक्खुत्तो'** के पाठ से गुरुदेव को वंदना-नमस्कार करके सामायिक आवश्यक करने की आज्ञा लेकर निम्नलिखित सूत्र पढ़ें–

आवस्सही इच्छाकारेण संदिसह भगवं! देवसी पडिक्कमणो ठायमि, देवसी-ज्ञान-दर्शन-चरित्त तप-अतिचार-चिन्तवणा अर्थं करेमि काउसग्गं॥6॥

शब्दार्थ–आवस्सही–अवश्यमेव ही, **इच्छाकारेण**–इच्छा है मेरी, आवश्यक करने की, **संदिसह**–आज्ञा दीजिए, **भगवं!**–हे भगवन्! मैं, **देवसी**–दिन-सम्बंधी, **पडिक्कमणो ठायमि**–प्रतिक्रमण प्रारंभ करता हूं, अर्थात् आवश्यक करने की आज्ञा लेकर आवश्यक करता हूं, जैसे कि– **देवसी**–दिन सम्बंधी, **ज्ञान-दर्शन**–ज्ञान-दर्शन, **चरित्त**–चारित्र सर्वव्रत में, **तप**–द्वादशविध तप में, **अतिचार**–लगे हुए अतिचारों के, **चिन्तवणा अर्थं**–स्मरण के लिये, **करेमि**–करता हूं, **काउसग्गं**–कायोत्सर्ग।

विधि–श्री अर्हन् देव की आज्ञा से सामायिक आवश्यक करने की आज्ञा लेकर प्रथम नमस्कार मंत्र पढ़े–

नमस्कार-मंत्र[1]

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं,

1. इस महामन्त्र को नमोक्कार मन्त्र भी कहते हैं, अर्थात् इस महामन्त्र का द्वितीय नाम नमोक्कार मन्त्र भी है, परन्तु कुछ आचार्य नमोक्कार के स्थान पर नवकार-मन्त्र ऐसा भी उच्चारण करते हैं, यह भी ठीक है, क्योंकि प्राकृत व्याकरण में इसका विवेचन इस प्रकार है–

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व-साहूणं॥[1]

शब्दार्थ–**णमो**[2]–नमस्कार हो, **अरिहंताणं**–अर्हद्भ्य[3]–अरिहन्तों भगवन्तों को, **णमो**–नमस्कार हो, **सिद्धाणं**–सिद्धेभ्य:[4]–अजर-अमर,

---

रूद्नमोर्व: (प्रा० व्या० अ० 8 पा० 4 सू० 226) अनयोरन्त्यस्य वो भवति, अर्थात् रुद् और नम् धातु के अन्त वर्ण को वकार हो जाता है, जैसे रुवइ, नवइ इत्यादि। इस सूत्र से नवकार ऐसे सिद्ध हुआ।

पुन: नमस्कार शब्द से नमोक्कार पद इस प्रकार से सिद्ध होता है जैसे कि नमस्कार परस्परे द्वितीयस्य (प्रा० व्या० अ० 8 पा० 1 सू० 62) अनयोर्द्वितीयस्य अत ओत्वं भवति। इस सूत्र से नमस् शब्द के द्वितीय शब्द के अकार को अर्थात् नमस् शब्द के मकार के प्रकार को ओकार हो गया, रूप हुआ नमोक्कार, फिर 'क-ग ट-ड-त-द-प-श-ष-स-क क पामूर्ध्व लुक् (प्रा० अ० 8 पा० 2 सू० 77) एषां संयुक्त-वर्णसम्बन्धिनामूर्ध्वस्थितानां लुग् भवति। इस सूत्र से सकार का लोप हो गया, तब नमोकार यह रूप बना। पुन: "अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम्" (प्रा० अ० 8 पा० 2 सू० 89) पदस्यानादौ वर्तमानस्य शेषस्यादेशस्य च द्वित्वं भवति। इस सूत्र से ककार द्वित्व हो गया, तब परिपक्व प्रयोग नमोक्कार ऐसे सिद्ध हुआ। 'ह्रस्व: संयोगे' (प्रा० अ० 8 पा० 1 सू० 84) इस सूत्र से "नमुक्कार" भी सिद्ध होता है।

1. इन पदों की चूलिका इस प्रकार से है–**एसो पंच णमोक्कारो, सव्व-पावप्पणासणो। मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं॥**

   अर्थान्वय:–एसो–एष:–यह, पंच–पञ्च–पांच, नमोक्कार–नमस्कार:–नमस्काररूप पद, सव्व–सर्व–सारे, पाव–पाप–पापों का, प्पणासणो–प्रणाशन:–प्रणाशनहार है, अर्थात् पापों को नष्ट करने वाला है, मंगलाणं–मंगलानां–सब मंगलों से मंगल करने वाला है, च–और, सव्वेसिं–सर्वेषां–सर्व स्थानों पर पढ़ा हुआ, पढमं–प्रथमं–प्रथम–अर्थात् दध्यादि पदार्थों की अपेक्षा, हवइ–है, मंगलं–मंगलम्– मंगलकारक।

   भावार्थ–इस महामन्त्र के पांचों नमस्कार रूप पद सर्व पापों का नाश करने वाले हैं तथा मंगलदायक हैं और सर्व स्थानों पर पठन किए हुए दध्यादि पदार्थों से भी सर्वोत्तम मंगल हैं, क्योंकि यह महामन्त्र अनन्त गुणयुक्त है।

2. कुछ विद्वान् ऐसे भी कहते हैं कि "णमोक्कार" शब्द ही शुद्ध है, अर्थात् जिसके पूर्व णकार होवे वही शुद्ध है अन्य सर्व अशुद्ध हैं, किन्तु प्राकृत व्याकरण में इस प्रकार लिखा है यथा–वादौ। (प्रा० अ० 8, पा०1, सू० 229) असंयुक्तस्यादौ वर्तमानस्य नस्य णो वा भवति। णरो–नरो। णई–नइ, इति वैकल्पिक: ण:।

3. अर्ह्–पूजायां धातु के साथ शत् प्रत्यय लगाकर जो अर्हत् शब्द बनता है उसका प्राकृत भाषा में अरिहंत रूप है।

4. षिध् संराधौ धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर सिद्ध शब्द बनता है।

अशरीरी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी सिद्धों को, **णमो**—नमस्कार हो **आयरियाणं**—आचार्य्येभ्य:[1]—आचार्यों को, **णमो**—नमस्कार हो, **उवज्झायाणं**—उपाध्यायेभ्य:[2] उपाध्यायों को, **णमो**—नमस्कार हो, **लोए सव्व-साहूणं**—लोके सर्व साधुभ्य:[3]—लोक में सर्व-साधुओं को।

भावार्थ—इस महामन्त्र में यह वर्णन किया गया है कि अनन्त गुण-युक्त चतुर्घाती कर्मों का नाश करने वाले और जिनमें द्वादश गुण प्रकट हुए हैं ऐसे गुणगणालंकृत श्री अरिहन्त भगवन्तों को नमस्कार हो।

जिनके अशरीरी, सिद्ध, बुद्ध, अजर, अमर इत्यादि अनेक नाम प्रसिद्ध हैं, जिनके सर्व कर्म क्षय हो गए हैं, अर्थात् जो कर्म-रूपी रज से विमुक्त हो गए हैं और जिनके अष्ट गुण प्रादुर्भूत हुए हैं इत्यादि अनेक सुगुणों के सहित श्री सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार हो।

जो छत्तीस गुणों से युक्त हैं, मर्यादा से क्रिया करने वाले हैं, जिनकी ज्ञान में अबाध गति है तथा जो सम्यक् प्रकार से गच्छ (साधु-समुदाय) की सारणा (रक्षा करना), वारणा (शिथिलाचारी को सावधान करना), साधु-मण्डल को हित-शिक्षा देना तथा वस्त्र-पात्रादि द्वारा भी मुनियों को सहायता देना वा शुद्ध शास्त्र-पाठ का पठन कराना और यदि कोई दुर्बल अर्थात् जंघाबल क्षीण एवं रोगादि युक्त साधु हो उसकी यथायोग्य सहायता करना, इत्यादि अनेक गुणों से जो युक्त हैं ऐसे श्री आचार्य जी महाराजों को नमस्कार हो।

जो पच्चीस गुणों से अलंकृत हैं, अर्थात् जो एकादश अंगों[4] तथा द्वादश

---

1. आङ् उपसर्ग पूर्वक चर् गति-भक्षणयो: धातु से कृदन्त का ध्यण् प्रत्यय लगा कर यह रूप सिद्ध होता है।
2. उप+अधि उपसर्ग पूर्वक इङ् अध्ययने धातु से कृदन्त का घञ् प्रत्यय लगा कर यह रूप बनता है।
3. लोकृ-दर्शने, सृ गतौ, राध्-साध्-संसिद्धौ, इन धातुओं से 'नमो लोए सव्व साहूणं' शब्द बनते हैं।
5. बारह अंग सूत्र–

   1. आचारांग, 2. सूयगडांग, 3. ठाणांग, 4. समवायांग, 5. विवाहपण्णत्ति, 6. णाया-धम्मकहा, 7. उपासगदसांग, 8. अंतगड, 9. अनुत्तरोववाइ, 10. पण्हवागरण, 11. विवाग, 12. दिट्ठिवाए (जो लुप्त हो चुका है।)

उपांगों[1] को स्वयं पढ़ते हैं एवं दूसरों को पढ़ाते हैं अर्थात् शास्त्रों का अभ्यास स्वयं करते हैं और दूसरों को यथावकाश व यथावसर पठनाभ्यास करवाते हैं, पुनः विद्या की उन्नति करने में तत्पर रहते हैं और जिन कार्यों के करने पर धर्म तथा विद्या की वृद्धि होती हो उन्हीं कार्यों को करके प्रफुल्लित होते हैं, ऐसे परम पण्डित महान् विद्वान दीर्घदर्शी परमोपकारी श्री उपाध्याय जी महाराजों को नमस्कार हो।

नमस्कार हो उन सब साधुओं को जो लोक में सुगुणों से परिपूर्ण हैं, सदा ही परोपकारी हैं और ज्ञान के द्वारा स्वात्मा वा अन्यात्माओं के कार्य सदैव सिद्ध करते हैं और सत्ताईस गुणों से युक्त हैं, उन मुनिराजों को पुनः-पुनः नमस्कार हो।

विधि—अब सामायिक करने के लिये निम्नलिखित सूत्र पढ़ें—

सामायिक आवश्यक

करेमि भंते! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाय तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्ने न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं, वोसिरामि।।3।।

शब्दार्थ—**करेमि**—करता हूं, **भंते**—हे भगवन्, **सामाइयं**—समता भावरूप जो सामायिक है, **सव्वं सावज्जं**—समस्त सावद्य युक्त, **जोगं**—मन, वचन, और काया के योगों का, **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग करता हूं, **जावज्जीवाय**—पूरे जीवन-भर के लिये, **तिविहेणं**—तीन प्रकार के योगों से, **तिविहं**—तीन करण से त्याग करता हूं, **मणेणं**—मन से, **वायाए**—वचन से, **काएणं**—काया से, **न करेमि**—कोई सावद्य कर्म न करूंगा, **न कारवेमि**—न किसी से करवाऊंगा, **करंतं पि**—सावद्य कर्म करते हुए, **अन्ने**—अन्य

1. बारह उपांग सूत्र—1. उववाई, 2. रायपसेणी, 3. जीवाभिगम, 4. पण्णवण्णा, 5. जम्बूद्वीव-पण्णत्ति, 6. चंद-पण्णत्ति, 7. सुज्ज-पण्णत्ति, 8. निरयावलिया, 9. पुप्फिया, 10. कप्पिया, 11. पुप्फचुल्लिया, 12. वण्हिदसा।

व्यक्ति को भी, **न समणुजाणामि**–अच्छा नहीं समझूंगा, **भन्ते**–हे भगवन्!, **तस्स**–उन पूर्व कथित पापों से, **पडिक्कमामि**–मैं निवृत्त होता हूं, **निंदामि**–उनकी निंदा करता हूं और, **गरिहामि**–गर्हा करता हूं और, **अप्पाणं**–अपनी आत्मा को, **वोसिरामि**–त्यागता हूं, अर्थात् पाप प्रवृत्ति वाले अपने पूर्व स्वरूप को छोड़ता हूं।

भावार्थ–उक्त सूत्र में यह वर्णन किया गया है कि सामायिक करने वाला भगवान् की आज्ञानुसार सामायिक में त्रिविध सावद्य (हिंसा-प्रधान) योगों का प्रत्याख्यान करता है, जैसे मन से, वचन से और काय से सावद्य कर्म करूंगा नहीं, मन से, वचन से, काय से कराऊंगा भी नहीं और हिंसा करते हुए व्यक्ति का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। मैं सभी पापों से अपनी आत्मा को पृथक् करके समता रूप भावों में आत्मा को स्थिर करता हूं।

विधि–फिर अपनी आलोचना के वास्ते निम्नलिखित सूत्र पढ़े, क्योंकि ज्ञान, दर्शन और चारित्र के चिंतवनार्थ ही कायोत्सर्ग किया जाता है।

संक्षिप्त प्रतिक्रमण–सूत्र

इच्छामि ठामि काउस्सग्गं जो मे देवसिओ अइयारो कओ, काइओ, वाइओ, माणसिओ, उस्सुत्तो, उम्मग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुचिंत्तिओ, अणायारो, अणिच्छियव्वो, असमण-पावग्गो, णाणे तह दंसणे, चरित्ते सुय सामाइए, तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं, पंचण्हं महव्वयाणं, छण्हं जीव-निकायाणं, सत्तण्हं पिंडेसणाणं, अट्ठण्हं पवयणमाऊणं, नवण्हं बंभचेर गुत्तीणं, दसविहे समण-धम्मे, समणाणं जोगाणं जं खंडियं जं विराहियं। जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥4॥

शब्दार्थ–**इच्छामि**–करना चाहता हूं, **ठामि**–इस स्थान पर, **काउस्सग्गं**–कायोत्सर्ग, **जो मे**–मैंने जो, **देवसिओ**–दिवस संबंधी, **अइयारो**–अतिचार, **कओ**–किया हो (कैसा अतिचार), **काइओ**–काय संबंधी, **वाइओ**–वचन

संबंधी, **माणसिओ**—मन संबंधी, **उस्सुत्तो**—सूत्र-विरुद्ध, **उम्मग्गो**—मार्ग विरुद्ध, **अकप्पो**—आचार-विरुद्ध, **अकरणिज्जो**—न करने योग्य, **दुज्झाओ**—दुर्ध्यान रूप, **दुचिंत्तिओ**—दुश्चिंतन रूप, **अणायारो**—न आचरण करने योग्य, **अणिच्छियव्वो**—न चाहने योग्य, **असमण-पावग्गो**—साधु के लिए अनुचित (जो अतिचार), **णाणे तह दंसणे**—ज्ञान तथा दर्शन में, **चरित्ते**—चारित्र में, **सुय**—श्रुत-ज्ञान में, **सामाइए**—सामायिक चारित्र में, **तिण्हं**—तीन, **गुत्तीणं**—गुप्तियों की, **चउण्हं**—चार, **कसायाणं**—कषायों की, **पंचण्हं**—पांच, **महव्वयाणं**—महाव्रतों की, **छण्हं**—छह, **जीवनिकायाणं**—जीव निकायों की, **सत्तण्हं**—सात, **पिंडेसणाणं**—पिण्डैषणाओं की, **अट्ठण्हं**—आठ, **पवयण-माऊणं**—प्रवचन माताओं की, **नवण्हं**—नौ, **बंभचेरगुत्तीणं**—ब्रह्मचर्य गुप्तियों की, **दसविहे**—दश-विध, **समणधम्मे**—श्रमणधर्म की, **समणाणं**—श्रमण सम्बंधी, **जोगाणं**—कर्त्तव्यों की, **जं**—जो, **खंडियं**—खण्डना की हो, **विराहियं**—विराधना की हो, **तस्स**—उस दूषित अवस्था का किया हुआ, **दुक्कडं**—पाप, **मि**—मेरे लिए, **मिच्छा**—मिथ्या हो।

भावार्थ—प्रस्तुत सूत्र प्रतिक्रमण की भूमिका उपस्थित करता है, क्योंकि इसमें उन अतिचारों का नाम निर्देश कर दिया गया है जिनकी आगे के सूत्रों एवं पाठों द्वारा साधु आलोचना करके भावशुद्धि के अनुष्ठानपूर्वक उन अतिचारों से भविष्य में बचने का प्रयास करता है।

प्रस्तुत सूत्र के कुछ शब्द विशेष ज्ञातव्य हैं।

उत्सूत्र (उस्सुत्तो)—शास्त्र-वर्णित साधु-मर्यादा के विरुद्ध आचरण करने को उत्सूत्र कहा जाता है।

उन्मार्ग (उम्मग्गो)—क्षायोपशमिक भाव को मार्ग कहा जाता है, इस मार्ग से विपरीत औदयिक भाव की ओर गमन करना उन्मार्ग कहलाता है, इससे चारित्र नष्ट होता है।

अकल्प (अकप्पो)—जो साधु के लिये उपयुक्त नहीं है उसका आचरण—आचार-विरुद्ध कार्य।

दुर्ध्यान (दुज्झाओ)–साधु के लिये आर्त्त और रौद्र ध्यान वर्जित हैं, इस वर्जित ध्यान-प्रक्रिया का आचरण दुर्ध्यान है।

पिण्डैषणा (पिंडेसणाणं)–शुद्ध आहार-पानी का ग्रहण करना एषणा है–यहां पिण्डैषणा से अभिप्राय पानेषणा से भी है। कहीं कहीं **"सत्तण्हं पिण्डेसणाणं, सत्तण्हं पानेसणाणं"** पाठ भी प्राप्त होता है, किन्तु **'एषणा'** शुद्ध आहार-पानी दोनों के लिये प्रयुक्त होता है, अतः एक से दोनों का ग्रहण उपयुक्त ही है। (एषणाओं का विस्तृत विवरण परिशिष्ट में देखिए)।

(नव ब्रह्मचर्य गुप्तियों तथा दशविध श्रमण-धर्म का विवेचन परिशिष्ट में देखिये)।

खण्डित और विराधित (खंडियं-विराहियं)–व्रतों का कुछ अंशों में नष्ट होना खण्डित होना कहलाता है और अधिक अंशों में खण्डित होना विराधित होना कहलाता है।

प्रस्तुत सूत्र में **'जो मे देवसि अइयारो कओ'** यह पाठ आरम्भ में आया है वहां "जैसे कि" इस शब्द का अध्याहार करके आगे दोषों का वर्णन कर दिया गया है। पुनः अन्त में **'जो मे देवसि अइयारो कओ'** इस पाठ के साथ 'इस प्रकार' शब्द का अध्याहार करके–इस प्रकार मैंने दिन में जो अतिचार किये हैं–यह अर्थ करना चाहिये। दो बार पाठ केवल भाव की स्पष्टता के लिये है।

विधि–इसके अनन्तर **"तस्सोत्तरि"** का पाठ पढ़ना चाहिये। तत्पश्चात् निम्नलिखित प्रकार से अतिचारों की आलोचना करनी चाहिये–

श्रुतज्ञान के चौदह अतिचारों की आलोचना

आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा–सुत्तागमे, अत्थागमे, तदुभयागमे–एहवा श्रुत ज्ञान के विषय जे कोई अतिचार लगा होय ते मैं आलोउं–1. जंवाइद्धं, 2. वच्चामेलियं, 3. हीणक्खरं, 4. अच्चक्खरं, 5. पयहीणं, 6. विणयहीणं, 7. जोगहीणं, 8. घोसहीणं, 9. सुट्ठुदिण्णं, 10. दुट्ठुपडिच्छियं, 11. अकाले

कओ सज्झाओ, 12. काले न कओ सज्झाओ, 13. असज्झाइए सज्झायं, 14. सज्झाइए न सज्झायं। जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं॥1॥

शब्दार्थ–**आगमे**–आगम–शास्त्र, **तिविहे**–तीन प्रकार का, **पण्णत्ते**–कहा गया है, **तंजहा**–जैसे कि, **सुत्तागमे**–सूत्रागम, **अत्थागमे**–अर्थागम, **तदुभयागमे**–तदुभयागम–सूत्र और अर्थ समन्वित आगम, **जं वाइद्धं**–जो सूत्र आगे का पीछे बोला हो, **वच्चामेलियं**–अन्य सूत्र का पाठ अन्य में मिला दिया हो, **हीणक्खरं**–हीन अक्षर से पठन किया हो, **अच्चक्खरं**–अक्षर अधिक कर के पठन किया हो, **पयहीणं**–पद छोड़ दिए हों, **विणयहीणं**–विनय रहित पढ़ा हो, **जोगहीणं**–योगों को स्थिर न रखते हुए पढ़ा हो, **घोसहीणं**–उदात्तादि घोष रहित पठन किया हो, **सुट्ठुदिण्णं**–अयोग्य पात्र को आगम ज्ञान प्रदान किया हो, **दुट्ठु-पडिच्छियं**–दुष्ट भाव से पढ़ा हो, **अकाले कओ सज्झाओ**–अकाल में स्वाध्याय किया हो, **काले न कओ सज्झाओ**–स्वाध्याय काल में स्वाध्याय न किया हो, **असज्झाइए सज्झायं**–अस्वाध्याय-काल में स्वाध्याय किया हो, **सज्झाइए न सज्झायं**–स्वाध्याय-काल में स्वाध्याय न किया हो, **जो**–जो, **मे**–मुझे, **देवसि**–दिन संबंधी, **अइयारो कओ**–अतिचार किया हो, **तस्स**–उसका, **मिच्छामि दुक्कडं**–मेरा पाप निष्फल हो।

भावार्थ–श्री श्रमण भगवान् ने आगम तीन प्रकार के प्रतिपादन किये हैं 1. सूत्रागम, 2. अर्थागम, 3. तदुभयागम।

इन आगमों का प्रतिदिन चार समय प्रत्येक मुनि को पठन करने की आज्ञा है। मुनि चिन्तन करता है कि यदि अध्ययन करते समय चतुर्दश अतिचारों में से मुझे कोई भी अतिचार रूप दोष लगा हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूं और उस पाप से पीछे हटता हूं, तथा उन चतुर्दश दोषों के परिहार करने की भावना करता हूं, जो कि निम्नलिखित हैं–

1. अनुक्रमपूर्वक न पढ़ना अथवा उबासी आते समय पठन करना।
2. अज्ञानता से अन्य शास्त्र का पाठ अन्य शास्त्र के साथ मिलाना।

3. मूल सूत्र से न्यून अक्षर उच्चारण करना।
4. अथवा अधिक अक्षर पठन करना।
5. पद से हीन पठन करना।
6. विनय-रहित अध्ययन करना।
7. योगहीन पढ़ना।
8. घोषहीन पढ़ना।
9. योग्य को सुन्दर ज्ञान न पढ़ाना।
10. कुरीति से पठन करना।
11. अकाल में स्वाध्याय करना।
12. अध्ययन-काल में स्वाध्याय न करना।
13. अनध्याय में स्वाध्याय करना।
14. स्वाध्याय के समय स्वाध्याय न करना।

दर्शन-अतिचार-आलोचना

दर्शन सम्यक्त्व-रत्न पदार्थ के विषय जे कोई अतिचार लागा होय ते मैं आलोउं, 1. श्री जिन वचन सम साचा श्रद्धा न होय, प्रतीत्या न होय, रुच्या न होय। 2. परदर्शन की आकांक्षा-वांछा कीधी होय। 3. फल प्रति संदेह आण्या होय। 4. परपाषंडी की प्रशंसा कीधी होय। 5. परपाषंडी से आलाप-संलाप सहसा परचा करा होय, कराया हो, करतां प्रति अनुमोद्या होय। जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।2।।

भावार्थ-सम्यग्दर्शन-रूप रत्न के विषय में यदि मुझ से कोई अतिचार हुआ हो-वह दूषित हुआ हो, तो मैं उसकी आलोचना करता हूं। जैसे कि यदि मैंने अरिहन्त-वचनों में श्रद्धा न की हो, उन पर विश्वास न किया हो, उन वचनों में मैंने रुचि न ली हो, जैन दर्शन के अतिरिक्त दर्शनों को अपनाने की इच्छा की हो, शुभ-अशुभ कर्मफल के प्रति मन में सन्देह किया हो, पर-पाखण्ड की प्रशंसा की हो, अथवा अन्य दर्शनानुयायी पाखण्डी से

आलाप-संलाप किया हो, उनके प्रति विश्वास किया हो, करवाया हो, अथवा विश्वास करने वाले की प्रशंसा की हो-अनुमोदना एवं विपरीत प्ररूपणा की हो, इस प्रकार मैंने दिन में जो अतिचार किए हैं, उनसे मैं पीछे हटता हूं। अतः मेरा यह अतिचार रूप दुष्कृत मिथ्या हो।

चारित्र-अतिचार-आलोचना

ईर्या-समिति-अतिचार-आलोचना

चारित्र पंच महाव्रत के विषय जे कोई अतिचार लागा होय, ते मैं आलोउं, ईर्या-द्रव्य थकी नीची दृष्टि देख के न चाल्यो होय, खेत्र थकी झूसरे प्रमाण, काल थकी जाव रीयंते, भाव थकी बिन उपयोग प्रवरत्यो होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।3।।

भावार्थ-चारित्र रूप पांच महाव्रतों के विषय में यदि मुझे कोई दोष लगा हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूं। सर्वप्रथम ईर्या-समिति के अन्तर्गत द्रव्य की अपेक्षा से यदि मैं नीची दृष्टि देखके न चला होऊं, क्षेत्र की अपेक्षा से शरीर-प्रमाण भूमि का बिना देखे यदि मैंने उल्लंघन किया हो, भाव की अपेक्षा से बिना उपयोग के (सावधान न रहकर) यदि चलने में प्रवृत्ति की हो, इस प्रकार जो मेरे द्वारा दिन भर में ईर्या-समिति विषयक अतिचार हुए हैं उनसे मैं निवृत्त होता हूं, भूल स्वीकार करते हुए उस भूल से निवृत्ति पाता हूं। मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

भाषा-समिति-अतिचार-आलोचना

भाषा समिति के विषय जे कोई अतिचार लागा होय, ते मैं आलोउं, भाषा कर्कश कठोर परप्राणी को पीड़ाकारी, छेदकारी, भेदकारी, कलहकारी, सावज्जकारी, निश्चयकारी, मिश्र, खोटी भाषा बोली होय, बुलाई होय, बोलतां प्रति अनुमोद्या होय-जो में देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।4।।

भावार्थ–भाषा-समिति के विषय में मुझे यदि कोई अतिचार लगा हो, तो मैं उसकी भूल मानता हूं, अर्थात् यदि मैंने कर्कश, कठोर और प्राणियों को पीड़ित करने वाली भाषा बोली हो, अथवा दूसरों का मर्म भदेन करने वाली तथा सावद्यकारी और निश्चयकारी अथवा कपटपूर्वक द्व्यर्थक भाषा बोली हो, बुलवाई हो, अथवा बालने वाले की अनुमोदना की हो तो मैं इस अतिचार से पीछे हटता हूं।

एषणा–समिति–अतिचार–आलोचना

एषणा समिति के विषय जे कोई अतिचार लागा होय, ते मैं आलोउं–सोलह उद्गमन दोष, सोलह उत्पादन दोष, दश एषणा के दोष, पांच मांडले के दोष, पूर्व कर्म, पश्चात् कर्म, असुज्झता आहार-पानी भोगा होय, भोगाया होय, भोगतां प्रति अनुमोद्या होय, सुज्झते आहार-पाणी की गवेषणा न कीधी होय, सैंतालीस दोष माहिलो जे कोई दोष-पाप लाग्या होय–जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।5।।

भावार्थ–एषणा समिति के विषय में यदि कोई अतिचार लगा हो, तो मैं उसकी आलोचना करता हूं जैसे कि–सोलह उद्गमन के, सोलह उत्पादन के, दस एषणा के और पांच मांडले के दोषों में से कोई दोष लगा हो, अथवा अकल्पनीय और पूर्वकर्म तथा पश्चात् कर्म वाला आहार-पानी लिया हो, आहार-पानी करवाया हो, सावधानी पूर्वक आहार-पानी की गवेषणा न की हो, तो इन सैंतालीस दोषों में से कोई भी दोष लगा होय, तो दिन में लगे हुए अतिचार रूप दोषों से मैं पीछे हटता हूं, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

निक्षेपणा–समिति–अतिचार–आलोचना

आयाण भंड-मत्त निखेवणा समिति के विषय जे कोई अतिचार लागा होय, ते मैं आलोऊं, भंडोवगरण वस्त्र-पात्र बिना पूंजे, बिना पडिलेहे लीधा होय, मूक्या होय, भोगा होय, भोगाया होय, भोगतां प्रति अनुमोद्या होय, काल के काल यथाविधि

पूंजणा-पडिलेहणा न करी होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।6।।

भावार्थ–आदान-भंड-मत्त निक्षेपणा समिति के विषय में यदि किसी प्रकार से अतिचार लगा हो, तो मैं उसकी आलोचना करता हूं। यदि मैंने वस्त्र, पात्र तथा अन्य भाण्डोपकरण बिना निरीक्षण के एवं प्रतिलेखना के बिना अयत्न से लिया हो, अथवा बिना यत्न के रखा हो, उनका उपभोग किया हो, उपभोग करवाया हो अथवा अयतना से उपभोग करने वाले का समर्थन किया हो और उचित समय पर विधि सहित वस्त्र-पात्र आदि का निरीक्षण एवं प्रतिलेखन न किया हो, इस प्रकार दिन भर में मैंने जो अतिचार किए हैं उनसे मैं पीछे हटता हूं।

परिष्ठापनिका समिति–अतिचार–आलोचना

उच्चार-प्रस्त्रवण–खेल-जल्ल-मल-सिंघाण परिठावणिया समिति के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय ते मैं आलोउं, उच्चारादि बिना पूंजे बिना पडिलेहे परठव्या हो, परठाया हो, परठतां प्रति अनुमोद्या होय, परठ के वोसिरे वोसिरे न करी होय, जाता आवस्सही-आवस्सही, आवता निस्सही-निस्सही न करी होय, थोड़ी भूमिका पडिलेही घणी भूमिका उपरि परठव्या होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।।7।।

भावार्थ–उच्चार, प्रस्त्रवण, श्लेष्म, जल्ल, मल और सिंघाण आदि को यदि मैंने विधि-सहित परिष्ठापन न किया हो (न गिराया हो), इस प्रकार परिष्ठापनिका समिति के विषय में यदि कोई अतिचार लगा हो, तो मैं उसकी आलोचना करता हूं। यदि उच्चार मल-मूत्र आदि को बिना पूंजे, बिना प्रतिलेखना किये कहीं गिराया हो, गिराते हुए की अनुमोदना की हो और उच्चार आदि गिराने के बाद 'वोसिरामि' न कहा हो अथवा उपाश्रय से किसी भिन्न स्थान पर कार्यवशात् जाते हुए 'आवस्सही आवस्सही' और पीछे आते हुए 'निस्सही निस्सही' इस प्रकार उच्चारण न किया हो अथवा

थोड़ी-सी भूमि की प्रतिलेखना करके अधिक भूमि पर उच्चार आदि गिराए हों, तो इस प्रकार के दिनभर में लगे हुए अतिचारों से मैं पीछे हटता हूं।

गुप्ति-विषयक अतिचार

मन-गुप्ति-अतिचार-आलोचना

मन गुप्ति के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय ते मैं आलोउं, मन अट्ट-दुहट्ट, संकल्प-विकल्प, राग-द्वेष की चिंत्वणा करी होय, कराई होय, करतां प्रति अनुमोदी होय, मन का योग खोटा परवरताया होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥8॥

भावार्थ-मनोगुप्ति के विषय में यदि कोई अतिचार लगा हो, तो उसकी मैं आलोचना करता हूं-मैंने विकल्प के वशीभूत होकर आर्त्त या रौद्र ध्यान किया हो, राग और द्वेष के वशीभूत होकर बुरा विचार किया हो या औरों से उक्त बर्ताव करवाया हो, ऐसा करने वालों की अनुमोदना की हो, तो इसमें लगे हुए अतिचार रूप पाप से पीछे हटता हूं, वह दुष्कृत मेरे लिये मिथ्या हो।

वचन-गुप्ति-अतिचार-आलोचना

वचन-गुप्ति के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय ते मैं आलोउं, वचन-स्त्रीकथा, भत्तकथा, देशकथा, राजकथा, चार विकथा माहिलि अनेरी विकथा करी हो, कराई होय, करतां प्रति अणुमोदी होय, बिना उपयोग भाषा बोली हो, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥9॥

भावार्थ-यदि मैंने वचन-गुप्ति के विषय में कोई अतिचार किया हो जैसे कि मैंने स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा और राजकथा आदि चार विकथाओं में से कोई भी विकथा कही हो, किसी से कहलवाई हो अथवा विकथा कहने वाले की अनुमोदना की हो, अथवा उपयोग के बिना दुष्ट भाषा

बोली हो तो इस प्रकार दिन में लगे हुए अतिचाररूप दोषों को छोड़ कर मैं शुद्धतापूर्वक वचनगुप्ति को धारण करता हूं, मेरा वह दुष्कृत मिथ्या हो।

काय–गुप्ति–अतिचार–आलोचना

काय गुप्ति के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय ते मैं आलोउं, काया–उठते-बैठते, हिलते-चलते, संकोचते-पसारते भूत-प्राणी जीवों की विराधना करी होय, कराई होय, करतां प्रति अनुमोदी होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।।10।।

भावार्थ–काय-गुप्ति के विषय में यदि मुझे कोई दोष लगा हो, तो मैं उसकी आलोचना करता हूं, अर्थात् उठते, बैठते, हिलते, चलते, देह संकोचते, लेटते और खड़ा होते समय यदि मैंने अयत्न बर्त्ताव किया हो, अथवा इस प्रकार से किसी जीव की विराधना की हो, कराई हो, अथवा करते हुए की अनुमोदना की हो–इस प्रकार जो कायगुप्ति में अतिचार लगा हो तो मैं उस अतिचार की भूल मानता हूं। मेरा वह दुष्कृत मिथ्या हो।

षट्काय-विषयक अतिचार

पृथ्वीकाय–विषयक अतिचारों की आलोचना

पृथ्वीकाय के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय ते मैं आलोउं, पृथ्वीकाय–माटी, मरुढ, गेरु, पांडु, हिंगलु, हरताल, लून, खड़िया, जंगाल, सचित्त रज प्रमुख की विराधना करी होय, कराई होय, करतां प्रति अनुमोदी होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।11।।

भावार्थ–पृथ्वीकाय के विषय में यदि कोई अतिचार लगा हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूं–गेरु, पांडु, हिंगलु (शिंगरफ), हरताल, लवण, खड़िया, जंगाल इत्यादि सचित्त पृथ्वी काय की यदि मैंने विराधना की हो, करवाई हो, करने वालों को अच्छा समझा हो, तो इस प्रकार मैंने दिन में जो

अतिचार किये हैं उन्हें मैं भूल मानता हूं और उन अतिचारों से पीछे हटता हूं। मेरा वह दुष्कृत मिथ्या हो।

अप्काय–विषयक अतिचारों की आलोचना

अप्काय के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय ते मैं आलोउं, अप्काय–ओस, हिम, गड़ा, फुंवार, छार, धूयर प्रमुख की विराधना करी होय, कराई होय, करतां प्रति अनुमोदी होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥12॥

भावार्थ–अप्काय जीवों के सम्बन्ध में यदि मुझे कोई अतिचार लगा हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूं–अप्काय के अन्तर्गत ओस, हिम (बरफ), ओले, फुवार, छार, धुन्ध प्रमुख अप्काय के जीवों को यदि मैंने संताप दिया हो, अथवा किसी प्रकार से दुखित किया हो, दुखी करवाया हो, अथवा दुःख देने वाले की अनुमोदना की हो, तो मैं दिन में किए उन अतिचार रूप पापों को छोड़ता हूं, मेरा यह दुष्कृत मिथ्या हो।

तेजस्काय–विषयक अतिचारों की आलोचना

तेउकाय के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय ते मैं आलोउं, तेउकाया के संघट्टे आहार-पानी बहरया होय, बहराया होय, बहरतां प्रति अनुमोद्या होय, तेउकाय प्रमुख की विराधना करी होय, कराई होय, करतां प्रति अनुमोदी होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥13॥

भावार्थ–तेजस्काय के विषय में यदि मुझे कोई दोष लगा हो, तो मैं उसकी आलोचना करता हूं, अग्निकाय के संघट्टन से (स्पर्श से) यदि आहार–पानी ग्रहण किया हो, करवाया हो, या करने वालों को भला समझा हो, अथवा तेजस्काय प्रमुख की विराधना की हो, करवाई हो, अथवा विराधक की अनुमोदना की हो, तो मैं इस पाप से पीछे हटता हूं, मेरा यह दुष्कृत मिथ्या हो।

वायुकाय–विषयक अतिचारों की आलोचना

वाउकाय के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय ते मैं आलोउं, वाउकाया–वस्त्रे करी, लूंगडे करी, छेडे करी, उठते-बैठते, हालते- चालते, पूंजते-पडिलेहते वाउकाया प्रमुख की विराधना करी होय, कराई होय, करतां प्रति अनुमोदी होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥14॥

भावार्थ–वायुकाय के विषय में यदि कोई अतिचार लगा हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूं। वस्त्र द्वारा तथा वस्त्र के खण्ड द्वारा या मुख से किसी प्रकार भी उठते, बैठते, हिलते, चलते, प्रतिलेखना करते, अथवा भाषण करते समय वायुकाय प्रमुख की विराधना की हो, या करवाई हो, करने वालों की अनुमोदना की हो तो उन अतिचार रूप पापों से मैं पीछे हटता हूं, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

वनस्पतिकाय–विषयक अतिचारों की आलोचना

वनस्पति-काय के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय ते मैं आलोउं, वनस्पति–कंद, मूल, फल-फूल, बीज, हरी, अंकुर, कणक, कपासिया, नीलण-फूलण प्रमुख की विराधना करी होय, कराई होय, करतां प्रति अनुमोदी होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥15॥

भावार्थ–वनस्पतिकाय के विषय में यदि मुझे कोई अतिचार–दोष लगा हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूं–जैसे कि कंद, मूल, फल, फूल, बीज, हरी और अंकुर, कणक, कपास, नीलण, फूलण आदि की यदि मैंने विराधना की हो, या करवाई हो, करने वालों की अनुमोदना की हो, तो दिन में किये अतिचार रूप पापों से मैं पीछे हटता हूं, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

द्वीन्द्रिय–जीव अतिचार–आलोचना

बेइन्द्रिय के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय ते मैं आलोऊं,

बेइन्द्रिय–सीप, शंख, जोंक, अलसिया, गंडोया, चूरनीया, कौड़ी, लट, गंजाई प्रमुख की विराधना करी होय, कराई होय, करतां प्रति अनुमोदी होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥16॥

भावार्थ–द्वीन्द्रिय जीवों के विषय में यदि कोई दोष–पाप लगा हो, तो मैं उसकी आलोचना करता हूं जैसे कि–सीप, शंख, जलौका, अलसिया, गंडोया, चूरणीया, कौड़ी, लट, गंजाई आदि द्वीन्द्रिय जीवों को यदि मैंने किसी प्रकार से कष्ट पहुंचाया हो, तो इस पाप को मैं छोड़ता हूं, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

त्रीन्द्रिय–जीव अतिचार–आलोचना

तेइन्द्रिय के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय ते मैं आलोउं, तेइन्द्रिय जूं, लीख, चाचड़, माकड़, ढोरा, सुलसली, कीड़ी, कुंथुवा प्रमुख की विराधना करी होय, कराई होय, करतां प्रति अनुमोदी होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥17॥

भावार्थ–यदि त्रीन्द्रिय जीवों के विषय में मुझे कोई अतिचार लगा हो, तो मैं उसकी आलोचना करता हूं। जैसे कि–जूं, लीख, चाचड़, माकड़, ढोरा, सुसरी, पिपीलिका, कुंथुवा आदि तीन इन्द्रिय वाले जीवों को यदि कदाचित् मैंने दुःख दिया हो, या औरों से दिलवाया हो, व इनको दुःख देने वालों की अनुमोदना की हो, तो इसमें लगे हुए दिन भर के पापों से मैं पीछे हटता हूं, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

चतुरिन्द्रिय–जीव अतिचार–आलोचना

चौरिंद्रिय के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय ते मैं आलोउं, चौरिन्द्रिय–मक्खी, मच्छर, भमरी-भमरा, टिडा, पतंगिया, बिच्छू प्रमुख की विराधना करी होय, कराई होय, करतां प्रति अनुमोदी होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥18॥

भावार्थ—यदि मुझे चार इन्द्रियों वाले जीवों को कष्ट देना रूप कोई अतिचार लगा हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूं—मक्षिका, मच्छर, भ्रमरी, भ्रमरा, पतंगिया और बिच्छू आदि जीवों को तीन करण और तीन योगों से यदि मैंने सताया हो, सतवाया हो, या सताने वालों की अनुमोदना की हो तो मैं दिन में किए इन पापों का पश्चात्ताप करता हूं और आगे कभी न करूंगा, ऐसी भावना करता हूं, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

पंचेन्द्रिय–जीव अतिचार–आलोचना

पंचेन्द्रिय के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय ते मैं आलोउं, पंचेन्द्रिय–जलचर, थलचर, खेचर, उरपुर, भुजपुर, सण्णी, असण्णी, गरभेजक चौदे ठिकाणे छमु-छम मनुष्य पंचेन्द्रिय प्रमुख की विराधना करी होय, कराई होय, करतां प्रति अनुमोदी होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥19॥

भावार्थ—यदि मुझे पंचेन्द्रिय जीवों के विषय में कोई अतिचार लगा हो, तो मैं उसकी आलोचना करता हूं। कदाचित् मैंने जलचर, स्थलचर, खेचर जीवों को कष्ट दिया हो, तथा छाती के बल चलने वाले अथवा भुजाओं के द्वारा गमन करने वाले और संज्ञी, असंज्ञी, गर्भज, चतुर्दश स्थानों में उत्पन्न होने वाले, सम्मूर्छम जीवों तथा मनुष्य पंचेन्द्रिय इत्यादि को दुःखी या व्यथित किया हो, तो मैं दिन के इस अतिचार की भूल मानता हूं और भविष्यत्काल में फिर ऐसा न करूंगा, यह प्रतिज्ञा करता हूं, अर्थात् इत्यादि दोषों को त्यागकर प्रथम महाव्रत को शुद्ध रूप से धारण करता हूं, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

सत्य–महाव्रत विषयक अतिचार–आलोचना

बीजे महाव्रत के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय ते मैं आलोउं, क्रोधे करी, लोभे करी, भयकरी, हासे करी, क्रीडे करी, कुतूहले करी, रागे करी, द्वेषे करी, मृषावाद झूठ बोल्या होय, बोलवाया होय, बोलतां प्रति अनुमोद्या होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥20॥

भावार्थ–यदि दूसरे महाव्रत मृषावाद-विरमण में कोई अतिचार रूप दोष लगा हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूं, जैसे कि–कदाचित् मैंने क्रोध से, लोभ से, भय से, हंसी-मजाक से, क्रीड़ा से, कुतूहल से, राग और द्वेष से, मृषावाद बोला हो, या औरों को बोलने का उपदेश दिया हो तथा जो झूठ बोलते हैं उनकी अनुमोदना की हो, इत्यादि यावत् द्वितीय महाव्रत में लगे हुए समस्त दैनिक अतिचारों को छोड़ता हूं, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

अदत्तादान–महाव्रत विषयक अतिचार–आलोचना

तीजे महाव्रत के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय ते मैं आलोउं–देव-अदत्त, गुरु-अदत्त, राय-अदत्त, गाहावई-अदत्त, सहामीय-अदत्त, पांच अदत्तादान माहेला अनेरा अदत्तादान लीधा होय, भोग्या होय, भोगाया होय, भोगवतां प्रति अनुमोद्या होय–जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥21॥

भावार्थ–तृतीय महाव्रत में यदि कोई दोष लगा हो, तो मैं उसकी आलोचना करता हूं। जैसे कि–देव-अदत्त, गुरु-अदत्त, राज-अदत्त, गाथापति–सेठ-अदत्त और स्वधर्मी-अदत्त, इन पांच अदत्त दानों में से यदि कोई अदत्त दान मैंने ग्रहण किया हो, भोगा हो, भोगवाया हो, भोगने वालों की अनुमोदना की हो, तो मैं इस दैनिक भूल को स्वीकार करता हूं, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

ब्रह्मचर्य–महाव्रत विषयक अतिचार–आलोचना

चौथे महाव्रत के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय, ते मैं आलोउं–कामराग, स्नेहराग, दृष्टिराग, देवता-देवी सम्बन्धी, मनुष्य-तिर्यञ्च सम्बन्धी माठा जोग प्रवरताया होय, नव प्रकार का औदारिक सम्बन्धी, नव प्रकार का वैक्रिय सम्बन्धी, अठारा प्रकार का मैथुन सेव्या होय, सेवाया होय, सेवतां प्रति अनुमोद्या होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥22॥

भावार्थ–यदि ब्रह्मचर्य महाव्रत रूप चौथे महाव्रत के विषय में कोई

अतिचार लगा हो, तो मैं उसकी आलोचना करता हूं—मैंने देव-देवी, संबंधी मनुष्य-तिर्यंच सम्बन्धी काम-भोगों की अभिलाषा की हो तथा कामराग, स्नहेराग, दृष्टिराग आदि में से कोई राग किया हो और नव प्रकार का औदारिक तथा नव प्रकार का वैक्रिय संबंधी अठारह प्रकार के मैथुन में से कोई मैथुन-कर्म किया हो, करवाया हो, करते हुए का अनुमोदन किया हो तो उसकी भूल मानता हूं और समस्त आयु पर्यन्त ब्रह्मचर्य महाव्रत धारण करता हूं, मेरा दृष्कृत मिथ्या हो।

अपरिग्रह—महाव्रत विषयक अतिचार—आलोचना

पांचवें महाव्रत के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय, ते मैं आलोउं—छती वस्तु की ममता-मूर्छा कीधी होय, अछती वस्तु की वांछा कीधी होय, भण्डोवगरण, वस्त्र-पात्र, शरीर उपरि ममता-मूर्छाभाव आण्यो होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥23॥

भावार्थ—पांचवें अपरिग्रह महाव्रत में यदि कोई अतिचार लगा हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूं, अर्थात् विद्यमान वस्तु पर ममता की हो तथा अवद्यिमान वस्तु की आकांक्षा की हो और भांडोपकरण, वस्त्र, पात्र, शरीर आदि पर ममता, मूर्च्छा, स्नेहभाव किया हो तो इस अतिचार की मैं भूल मानता हूं और इसमें लगे हुए अतिचारों को छोड़ता हूं, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

रात्रि—भोजन विषयक अतिचार—आलोचना

छठा रात्रि भोजन के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय, ते मैं आलोउं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं सीत-मात्र रात-बासी रखा होय, रखाया होय, रखतां प्रति अनुमोद्या होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥24॥

भावार्थ—रात्रि-भोजन-त्याग रूप छठे महाव्रत के विषय में यदि मुझे कोई अतिचार लगा हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूं, जैसे कि—रात्रि को यदि मैंने अन्न, पानी, खाद्य, स्वाद्य चार प्रकार के आहारों में से किंचित्

मात्र भी रात बासी रक्खा हो और भोगा हो, भोगाया हो तथा भोगने वालों की प्रशंसा की हो तो मैं इसका पश्चात्ताप करता हूं और इस (पाप) का त्याग करता हूं। मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

सामूहिक अतिचार–आलोचना

पांच महाव्रत की पच्चीस भावना सम आराधी न होय, सम पाली न होय, सम फरसी न होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।25।।

भावार्थ–इन पूर्वोक्त पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएं यदि सम्यक् प्रकार से न आराधी हों, अथवा न पाली हों, न स्पर्श की हों, तो इसकी भूल मानता हूं और इन पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं को सम्यक् प्रकार से धारण करता हूं, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

तैंतीस आशातनाओं की आलोचना

तैंतीस आसातना माहिली जे कोई अनेरी आसातना करी होय, कराई होय, करतां प्रति अनुमोदी होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।26।।

भावार्थ–तैंतीस आशातनाओं में से यदि कोई भी आशातना मैंने की हो, करवाई हो और आशातना करने वालों की अनुमोदना की हो तो इसमें लगे हुए अतिचारों–पापों से मैं पीछे हटता हूं। मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

अठारह पाप–स्थानकों की आलोचना

अठारह पापस्थानक के विषय जे कोई अतिचार लाग्यो होय ते मैं आलोउं–1. प्राणातिपात, 2. मृषावाद, 3. अदत्तादान, 4. मैथुन, 5. परिग्रह, 6. क्रोध, 7. मान, 8. माया, 9. लोभ, 10. राग, 11. द्वेष, 12. कलह, 13. अभ्याख्यान, 14. पिशुन, 15. परपरिवाद, 16. रति-अरति, 17. माया-मोसा, 18. मिथ्या-दर्शन-शल्य,

एह अठारह पापस्थानक माहिलो कोई पापस्थानक सेव्या होय, सेवाया होय, सेवतां प्रति अनुमोद्या होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥27॥

भावार्थ–1. प्राणातिपात (जीव-हिंसा), 2. मृषावाद, 3. अदत्तादान, 4. मैथुन, 5. परिग्रह, 6. क्रोध, 7. मान, 8. माया, 9. लोभ, 10. राग, 11. द्वेष, 12. कलह (क्लेश), 13. अभ्याख्यान (किसी पर दोषारोपण करना), 14. पिशुनता (चुगली करना), 15. परपरिवाद (दूसरों की निन्दा करना), 16. रति-अरति (विषयभोगों के मिलने पर हर्ष और न मिलने पर चिन्ता), 17. माया-मृषा, 18. मिथ्या-दर्शन-शल्य–इत्यादि अठारह पापस्थानकों का यदि मैंने सेवन किया हो, अथवा दूसरों को इनके सेवन का उपदेश दिया हो और जो इनका सेवन करते हैं उनकी अनुमोदना की हो, तो मैं इसकी भूल मानता हूं और इन्हें छोड़ता हूं, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

मूलगुण–उत्तरगुण विषयक सामूहिक आलोचना

मूलगुण पंचमहाव्रत, उत्तरगुण दशविधि पचक्खाण, इण विषय जे कोई अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अणाचार जाणते-अजाणते मन-वचन-काया कर सेव्या होय, सेवाया होय, सेवतां प्रति अनुमोद्या होय जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥28॥

भावार्थ–मूलगुण रूप पांच महाव्रतों में और उत्तरगुण रूप दश प्रकार के प्रत्याख्यान रूप नियमों में यदि मैंने कोई अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार अथवा अनाचार जान कर या अनजाने में, स्वयं मैंने अतिचार सेवन किया हो, औरों को अतिचार सेवन का उपदेश दिया हो, सेवन-कर्ताओं की प्रशंसा की हो, तो इस प्रकार लगे हुए इन अतिचाररूप दोषों से मैं पीछे हटता हूं, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

सामूहिक अतिचार आलोचना

इच्छामि आलोइयं–जो मे देवसि अइयारो कओ–काइओ, वाइओ, माणसिओ, उस्सुत्तो, उम्मग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुचिंतिओ, अणायारो, अणिच्छियव्वो, असमण-पावग्गो, नाणे तह दंसणे, चरित्ते, सुय, सामाइए, तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं, पंचण्हं महव्वयाणं, छण्हं जीवनिकायाणं, सत्तण्हं पिंडेसणाणं, अठण्हं पवयण माऊणं, नवण्हं बंभचेर-गुत्तीणं, दसविहे समणधम्मे, समणाणं जोगाणं जं खंडियं, जं विराहियं जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥29॥

भावार्थ–हे भगवन्! दिन सम्बन्धी लगे हुए मानसिक, वाचिक और कायिक अतिचार-रूप दोषों की आलोचना आपकी साक्षी से करता हूं। यदि मैंने शास्त्र से विरुद्ध कार्य किया हो, दुष्ट मार्ग में गमन किया हो, अकल्पनीय ग्रहण किया हो, अकरणीय कार्य तथा कुत्सित ध्यान किया हो और बुरी चिंत्वना की हो, अथवा मेरी संयम-वृत्ति में कोई अनाचरण लगा हो, इच्छा न करने योग्य वस्तु की इच्छा की हो, श्रमण-वृत्ति से विरुद्ध बर्ताव किया हो तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और श्रुत, सामायिक में अथवा तीन गुप्तियों में, चार कषायों में, पांच महाव्रतों में, छः जीवनिकायों में, सात पिंडैषणाओं में, अष्ट प्रवचन माताओं में, नव प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्ति में और दश प्रकार के श्रमणधर्म में तथा श्रमणों के योगों में यदि किसी प्रकार का दोष लगा हो, या पूर्वोक्त समस्त नियम मेरे द्वारा खंडित हुए हों, विराधित हुए हों, तो इनमें लगे हुए अतिचाररूप पापों को मैं छोड़ता हूं और इनसे पीछे हटता हूं, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

श्रुत–अतिचार आलोचना

सब-सब देवसियं, दुचिंतियं, दुभासियं दुचिट्ठियं दुपालियं, अधिका, ओछा, काना-मात्र विपरीत कह्या होय, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं॥30॥

भावार्थ–मैंने दिन में यदि किसी प्रकार भी दुष्ट भाषण किया हो या शास्त्र को न्यूनाधिक पठन किया हो, अथवा कदाचित् अर्हदाज्ञानुकूल बर्ताव न किया हो, तो उसमें लगे हुए अतिचारों का त्याग करता हूं। मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

विधि–फिर नमोक्कार मन्त्र पढ़कर ध्यान पारें।

॥ प्रथम आवश्यक समाप्त ॥

द्वितीय आवश्यक : चतुर्विंशति–स्तव

'तिक्खुत्तो' के पाठ सहित गुरुदेव को वंदना करके द्वितीय आवश्यक करें। तत्पश्चात् "लोगस्स उज्जोयगरे" का पूर्ण पाठ खड़े होकर एक बार पढ़ें–।

चतुर्विंशति जिन–स्तव सूत्र

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली॥1॥

उसभमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे॥2॥

सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल-सिज्जंस वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि॥3॥

कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमि जिणं च।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च॥4॥

एवं मए अभित्थुआ, विहुय-रय-मला पहीणजरमरणा।
चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु॥5॥

कित्तिय वंदिय महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्ग-बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु॥6॥

चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवर-गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु॥7॥

॥ द्वितीय आवश्यक समाप्त ॥

तृतीय आवश्यक : वन्दना

विधि–'तिक्खुत्तो' का पाठ पढ़ कर वन्दना करके तृतीय वन्दनारूप आवश्यक करें, जो इस प्रकार है–

इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जावणिज्जाए, निस्सीहियाए अणुजाणह मे मि उग्गहं निसीही, अहो कायं कायसंफासं खमणिज्जो भे किलामो अप्पकिलंत्ताणं बहुसुभेणं देवसि वइक्कंतो जत्ता भे जवणिज्जं च भे खामेमि खमासमणो! देवसि वइक्कमं, आवस्सियाए पडिक्कमामि। खमासमणो देवसियाए आसायणाए तेत्तीसण्णयराए जं किंचि मिच्छाए, मणदुक्कडाए, वयदुक्कडाए, कायदुक्कडाए कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए, सव्वकालियाए, सव्वमिच्छोवयाराए, सव्वधम्म-अइक्कमणाए, आसायणाए, जो मे देवसि अइयारो कओ, तस्स खमासमणो! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।

शब्दार्थ–**इच्छामि**–चाहता हूं, **खमासमणो**–हे-क्षमाश्रमण! **वंदिउं**–वन्दना करना, **जावणिज्जाए**–अपनी शक्ति के अनुरूप, **निस्सीहियाए**–पाप-कर्म से निवृत्त शरीर से, **अणुजाणह**–मैं आज्ञा चाहता हूं, **मे**–मुझको, **मिउग्गहं**–आपकी शरीराधिष्ठित भूमि में प्रवेश करने की (इस प्रकार आज्ञा लेकर कहें), **निसीही**–समस्त अशुभ व्यापारों को रोककर, **अहोकायं**–आपके चरण कमलों का, **कायसंफासं**–मैं अपने हाथों एवं मस्तक से स्पर्श करता हूं, **भे**–हे गुरुदेव! आपको, **किलामो**–जो कष्ट हुआ हो, **अप्प किलंत्ताणं**–आप शारीरिक एवं मानसिक वेदना से मुक्त हैं, **बहुसुभेणं**–बहुत आनन्दपूर्वक, **भे**–(क्या) आपका, **देवसी**–आज का दिन, **वइक्कंतो**–व्यतीत हुआ है? **जत्ता**–तप-संयम रूप यात्रा,

भे—आपकी (सकुशल हो रही है?), **च**—और, **भे**—आपका शरीर, **जवणिज्जं**—सब प्रकार की पीड़ा से रहित है? **खमासमणो**—हे क्षमाश्रमण! **देवसि**—मेरे द्वारा दिन-भर में हुए, **वइक्कमं**—अपराधों के लिए, **खामेमि**—खिमाता हूं (उसके लिए आपसे क्षमादान की प्रार्थना करता हूं), **आवस्सियाए**—आवश्यक क्रियाएं करते समय यदि कोई अतिचार लगा हो, **पडिक्कमामि**—उससे हटता हूं अर्थात् उसके लिए पश्चात्ताप करता हूं, **खमासमणो**—हे क्षमाश्रमण! **देवसियाए**—दिन संबंधी, **आसायणाए**—आशातनाओं के द्वारा (जैसे कि—**तेत्तीसण्णयराए**—तैंतीस आशातनाओं के द्वारा, **जं किंचि**—जिस किसी भी भाव से हुई हो, **मिच्छाए**—मिथ्या भाव से हुई हो, **मण-दुक्कडाए**—दुष्ट मन से हुई हो, **वय-दुक्कडाए**—दुष्ट वचनों से हुई हो, **काय-दुक्कडाए**—शारीरिक कुचेष्टाओं से हुई हो, **कोहाए**—क्रोध से हुई हो, **माणाए**—मान से हुई हो, **मायाए**—छल-कपट से हुई हो, **लोहाए**—लोभ से हुई हो, **सव्वकालियाए**—सम्पूर्ण समय में से किसी भी समय हुई हो, **सव्वमिच्छोवयाराए**—सब प्रकार के मिथ्या भावों द्वारा हुई हो, **सव्व-धम्माइक्कमणाए**—सब धर्म-मर्यादाओं का उल्लंघन करके हुई हो, **आसायणाए**—ऐसी सभी आशातनाओं द्वारा, **जो**—जो भी, **मे**—मैंने, **देवसि**—दिन भर में, **अइयार**—अतिचार रूप दोष, **कओ**—किया हो, **तस्स**—उसके लिए, **खमासमणो**—हे क्षमाश्रमण! **निंदामि**—मैं अपने ऐसे कार्यों की स्वयं निंदा करता हूं, **गरिहामि**—गर्हा करता हूं, **अप्पाणं**—अपने पूर्व पापमय स्वरूप का, **वोसिरामि**—परित्याग करता हूं।

विधि—यह पाठ दो बार पढ़ना चाहिये, किन्तु प्रथम बार जब '**निसीहि**' ऐसा सूत्र आए, तब हाथ जोड़कर बैठ जाए। फिर षट् प्रकार से आवर्त्तन निम्न लिखितानुसार करे, जैसे कि—

प्रथम '**अहो कायं काय**' इस सूत्र को पठन करता हुआ तीन आवर्त्तन करे। अर्थात्—दोनों हाथों को फैलाकर दशों अंगुलियां गुरु के चरणों पर लगाता हुआ मुख से '**अ**' अक्षर उच्चारण करे। फिर दोनों हाथ मस्तक को स्पर्श करता हुआ '**हो**' अक्षर कहे, सो इस प्रकार से प्रथम आवर्त्तन होता है।

इसी प्रकार पूर्वोक्त विधि से ही **'का'** और **'यं'** अक्षरों के उच्चारण से द्वितीय आवर्त्तन हो जाता है **'का'** **'य'** यह तृतीय आवर्त्तन है।

इसी प्रकार **'जत्ता'** **'भे'** **'जवणि'** **'ज्जं च भे'** इन सूत्रों के भी तीन-तीन ही आवर्त्तन होते हैं, जैसे कि-

मंद स्वर के साथ **'ज'** अक्षर का उच्चारण करे, फिर मध्यम स्वर से **'त्ता'** ऐसे कहे, फिर ऊंचे स्वर के साथ हाथ मस्तक को लगाता हुआ **'भे'** ऐसे वर्ण का उच्चारण करे, सो इन तीन अक्षरों से प्रथम आवर्त्तन होता है।

फिर **'ज'** **'व'** **'णि'** इन तीन अक्षरों का पूर्वोक्त स्वरों के अनुकूल उच्चारण करने से द्वितीय आवर्त्तन होता है।

फिर **'जं'** **'च'** **'भे'** इन तीनों वर्णों के पूर्वोक्त प्रकार से उच्चारण करने से तृतीय आवर्त्तन होता है।

इस प्रकार से षट् आवर्त्तन एक पाठ से होते हैं और दो बार उच्चारण करने से द्वादश आवर्त्तन हो जाते हैं। किन्तु द्वितीय बार के पाठ में **'आवस्सियाए'** यह पाठ न पढ़े, अपितु पूरे सूत्र का पाठ करे।

सरलार्थ-हे क्षमाश्रमण गुरुवर्य! मैं यथाशक्ति पाप-व्यापारों को छोड़कर आपको वन्दना करना चाहता हूं, अतः आप मुझे आपकी शरीराधिष्ठित भूमि में प्रवेश करने की आज्ञा प्रदान करें! (गुरु-आज्ञा प्राप्त होने पर शिष्य पुनः कहता है)-मैं अशुभ व्यापारों से हटकर आपकी पावन काय का-चरणों का अपने शरीर से-हाथों एवं मस्तक से स्पर्श कर रहा हूं, आप क्षमा-प्रदान करने के योग्य हैं, अतः मुझे क्षमा प्रदान करें। (कृपया बताएं कि) आप तो शारीरिक एवं मानसिक वेदना से मुक्त हैं फिर भी क्या आप श्री का दिन सुख से व्यतीत हुआ है? आपकी संयम-यात्रा सकुशल रही होगी? हे क्षमा-श्रमण गुरुवर्य! मैं अपने दिन-भर के अपराधों के लिये क्षमा चाहता हूं और मुझ से जीवनोपयोगी कार्य करते हुए जो अपराध हुआ हो उससे निवृत्त होता हूं। हे क्षमाशील! आपकी तैंतीस आशातनाओं में से कोई भी आशातना की हो (जैसे कि)-किसी भी मिथ्याभाव से आशातना हुई हो, दुष्ट मन से, दुर्वचन से, दुष्ट शारीरिक चेष्टाओं से,

क्रोध, मान, माया, लोभ से, किसी भी काल में, किसी भी मिथ्या भावना से, सभी धर्म-मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाली कोई भी आशातना हुई हो—इस प्रकार मैंने जो भी अतिचार किया हो उससे निवृत्त होता हूं, अपने पाप-कृत्यों की निन्दा एवं गर्हा करता हूं—अपनी आत्मा के अपराधकारी रूप का सर्वथा परित्याग करता हूं।

भावार्थ—प्रस्तुत सूत्र में पहले शिष्य ने गुरु को वन्दना की है, फिर उनसे चरण-स्पर्श एवं मस्तक को चरणों पर रखने की आज्ञा मांगी है, तदनन्तर उनसे शारीरिक-कुशलता, संयम-यात्रा की निर्बाधता तथा दैनिक चर्या की मंगलमयता पूछी है और अन्त में अपने मन, वचन, काया से कृत अपराधों के लिये क्षमा मांगते हुए गुरुदेव को विश्वास दिलाया है कि मैं अपनी आत्मा के कलुषित रूप आशातना का त्याग कर सर्वथा शुद्ध बनने का प्रयास कर रहा हूं।

प्रस्तुत सूत्र का '**निसीहिया**' शब्द महत्त्वपूर्ण है। इस प्राकृत शब्द का संस्कृत रूप '**नैषेधिकी**' है, जिसका अर्थ है '**निषिद्ध**' एवं अनाचरणीय क्रिया-कलापों से मुक्त शरीर। शिष्य निवेदन करता है कि मेरा शरीर निषिद्ध क्रिया-व्यापारों से रहित होने के कारण आपके चरणों का स्पर्श करने योग्य है। यह शिष्य की विनीतता है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण शब्द है '**मिउग्गहं—मितावग्रहः**' परिमित स्थान अर्थात् जहां गुरुदेव विराजमान हैं उनके चारों ओर साढ़े तीन-तीन हाथ प्रमाण क्षेत्र। इस सूत्र में इस मर्यादा का उल्लेख किया गया है कि शिष्य को गुरु से कम से कम साढ़े तीन हाथ दूर खड़े रहना चाहिये। इस क्षेत्र में शिष्य को गुरु से आज्ञा लेकर ही प्रवेश करना चाहिये।[1]

'**अप्पकिलंताणं**'—शब्द का वाच्यार्थ है—'**अल्पक्लान्त**' थोड़ी पीड़ा वाला, किन्तु यह अर्थ समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि गुरुदेव में थोड़ी पीड़ा की विद्यमानता का भाव बुद्धि को अपील नहीं करता है। आवश्यकचूर्णि

---

1. चतुर्दिशामिहाचार्यस्य आत्म-प्रमाण-क्षेत्रमवग्रहः। तमनुज्ञां विहाय प्रवेष्टुं न कल्पते।
—(आचार्य हरिभद्र, आवश्यक वृत्ति)

में श्री हरिभद्रसूरि अल्प शब्द का अर्थ करते हुए कहते हैं–'**अल्प इति अभावे**' 'अल्प' शब्द का अर्थ '**अभाव**' भी होता है, अतः हमने इसका अर्थ शारीरिक एवं मानसिक वेदना से मुक्त किया है।

आशातना–शब्द का अर्थ है ज्ञान–दर्शन एवं चारित्र का खण्डन करने वाली क्रिया (**आयस्य ज्ञानादिरूपस्य शातना–खण्डना आशातना, निरुक्त्या य–लोपः**)। यद्यपि आशातनाओं की कोई गणना नहीं हो सकती, फिर भी स्थूल रूप से शास्त्रकारों ने तैंतीस आशातनायें बताई हैं। (देखिये परिशिष्ट)।

॥ तृतीय आवश्यक समाप्त ॥

चतुर्थ आवश्यक : प्रतिक्रमण

स्मरण रहे–अतिचारों और श्रमण-सूत्र का समावेश प्रतिक्रमण में ही हो जाता है।

विधि–'**तिक्खुत्तो**' के पाठ से वंदना करके चतुर्थ आवश्यक करने की गुरु महाराज जी से आज्ञा लेकर पूर्वोक्त अतिचार जो ध्यान में पठन किये थे उनको खड़ा होकर, मध्यम स्वर से पढ़े, किन्तु सर्व पाठों के अंत में '**जो मे देवसि आइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं**' ऐसे कहना चाहिए, क्योंकि ध्यान में केवल चिंत्वना ही की जाती है और 30 पाठ पूर्ण पढ़ कर फिर '**तिक्खुत्तो**' के पाठ से गुरु जी को वंदना करके बैठकर दक्षिण जानु ऊर्ध्व करके और वाम जानु भूमि पर रखकर श्रमण-सूत्र का पाठ करे जो निम्नलिखितानुसार है–

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।[1]

भावार्थ–इस महामन्त्र में यह वर्णन किया गया है कि अनन्त गुणयुक्त चतुर्घाती कर्मों के नष्ट-कर्ता और जिनके द्वादश गुण प्रगट हुए हैं ऐसे गुण-गणालंकृत श्री अरिहन्त जी महाराजों को नमस्कार हो।

जिनके अशरीरी, सिद्ध, बुद्ध जरामरेत्यादि अनेक नाम सुप्रसिद्ध हैं, जिनके सर्व कर्म क्षय हो गए हैं, अर्थात् जो कर्मरूपी रज से विमुक्त हो गये हैं और जिनके अष्ट गुण प्रादुर्भूत हुए हैं इत्यादि अनेक सुगुणों सहित श्री सिद्ध महाराजों को नमस्कार हो।

जो छत्तीस गुणों से युक्त मर्यादा से क्रिया करने वाले हैं, जिनकी ज्ञान में गति अधिक है तथा जो सम्यक् प्रकार से गच्छ (साधु-समुदाय) की सारणा

1. एसो पंच णमोक्कारो, सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं।।

(रक्षा करना), वारणा (शिथिलाचारी को सावधान करना), साधु-मण्डल को हित-शिक्षा देना तथा वस्त्र-पात्रादि द्वारा भी मुनियों को सहायता देना वा परम्पराशुद्ध शास्त्र का पठन कराना, साथ ही यदि कोई दुर्बल अर्थात् जंघाबल-क्षीण रोगादियुक्त साधु हो उसकी यथायोग्य सहायता करना इत्यादि अनेक गुणों से युक्त हैं, उक्त कार्यों के पूर्ण करने में सदैव कटिबद्ध हैं, ऐसे श्री आचार्यों को नमस्कार हो।

जो पच्चीस गुणों से अलंकृत हो रहे हैं, अर्थात् जो एकादश अंगों तथा द्वादश उपांगों को स्वयं पढ़ते हैं, औरों को पढ़ाते हैं ऐसे उपाध्याय जी को नमस्कार हो।

जो सत्ताईस गुणयुक्त मुनिराज हैं उनको भी नमस्कार हो।

सामायिक सूत्र

करेमि भंते! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवाय, तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए कायेणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्ने न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।

(शब्दार्थ पहले दिया जा चुका है।)

भावार्थ–साधक तीन करण और तीन योगों से पाप को छोड़कर जीवन भर के लिये सामायिक को धारण करे और अपनी आत्मा को पापों से सदैवकाल पृथक् रक्खे।

मंगल सूत्र

चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा–अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलि-पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे

सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलि-पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।[1]

शब्दार्थ–**चत्तारि मंगलं**–चार मंगल हैं, जैसे कि, **अरिहंता मंगलं**–अरिहंत मंगल स्वरूप हैं, **सिद्धा मंगलं**–सिद्ध मंगल स्वरूप हैं, **साहू मंगलं**–साधु मंगल स्वरूप हैं, **केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगलं**–श्री केवली भगवान् का प्रतिपादन किया हुआ धर्म मंगल है, **चत्तारि लोगुत्तमा**–चार ही वस्तु लोक में उत्तम हैं जैसे कि, **अरिहंता लोगुत्तमा**–अरिहंत लोक में उत्तम हैं, **सिद्धा लोगुत्तमा**–सिद्ध लोक में उत्तम हैं और, **साहू लोगुत्तमा**–साधु लोक में उत्तम हैं, **केवलि-पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो**–केवली भगवान् का प्रतिपादन किया हुआ धर्म लोक में उत्तम है, **चत्तारि सरणं पव्वज्जामि**–चार ही शरण ग्रहण करता हूं जैसे कि–**अरिहंते सरणं पव्वज्जामि**–मैं अरिहंतों की शरण ग्रहण करता हूं, **सिद्धे सरणं पव्वज्जामि**–सिद्धों की शरण ग्रहण करता हूं, **साहू सरणं पव्वज्जामि**–साधुओं की शरण ग्रहण करता हूं, **केवलि-पण्णत्तो धम्मं सरणं पव्वज्जामि**–श्री केवली भगवान् के प्रतिपादन किये हुए धर्म की शरण ग्रहण करता हूं।

भावार्थ–प्रस्तुत-सूत्र में चार मंगल बताए गए हैं–अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवली-प्ररूपित धर्म। मंगल का अर्थ है, '**मां–अहंकारं गालयतीति, दूरीकरोतीति, मंगलम्**'–अर्थात् जो अहंकार को दूर करदे वही मंगल है। अरिहन्त मंगल हैं, क्योंकि उनमें अहंकार नहीं, सिद्ध मंगल हैं, क्योंकि वे भी अहंकार से मुक्त हैं, साधु मंगल हैं, क्योंकि साधु कहा ही उसे जाता है जिसमें अहंभाव नहीं है। इन तीनों मंगलों को प्राप्त करने के लिये यदि मंगल-साधना करनी हो वह धर्म की करनी चाहिये। कौन-से धर्म की? केवली-प्ररूपित धर्म की। जो स्वयं अहंकार से मुक्त है वही ठीक धर्म-मार्ग का ज्ञान करा सकता है, जो स्वयं 'अहं'–पाप-मूल अभिमान में लीन है वह कभी मंगलमयता का मार्ग नहीं बता सकता। इसीलिये शास्त्रकार ने

---

1. अरिहंतां जी का शरणा, सिद्धां जी का शरणा, साधु जी का शरणा, श्री केवलि प्ररूप्या धर्म का शरणा, यह चार ही शरणे और न शरणा कोय, जो भव्य प्राणी आदरे, अक्षय अचल गति होय। उपलक्षण से ऐसे भी कहा जाता है।

किसी विशेष नाम को छोड़कर 'केवली'–कहा, क्योंकि केवली वही हो सकता है जो अहंभाव से मुक्त है।

किसी भी अरिहन्त भगवन्त ने यह नहीं कहा–**'मामेकं शरणं व्रज'**– एक मेरी ही शरण ग्रहण करो, 'मेरी' शब्द तो अहंकार का विशाल कोष अपने में समेटे बैठा है। इसीलिये केवली भगवान् धर्म की शरण में आने के लिये कहते हैं–अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म की शरण में। अहिंसा, संयम तथा तप के बिना मनुष्य मंगलमयता को प्राप्त नहीं हो सकता, इसीलिये शास्त्रकार ने सर्वप्रथम मंगल का तथा मंगल के मार्ग का ज्ञान कराया है।

द्वितीय 'उत्तम सूत्र' में लोकोत्तम पुरुष और लोकोत्तम मार्ग का निर्देश करते हुए शास्त्रकार कहते हैं–चार लोकोत्तम हैं–अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवली-प्ररूपित धर्म।

जो व्यक्ति लौकिक समृद्धियों में उलझ कर परलोक को सर्वथा भूल जाता है–सिद्धत्व की ओर प्रगति एवं मोक्ष के लक्ष्य को भूल जाता है उसे अधम कहा जाता है–**'अधमो लोकनिरतः।'**

जो व्यक्ति लोक की साधना करता हुआ परलोक को भूलता नहीं उसकी भी साधना करता रहता है, वह मध्यम है।

जो महापुरुष लोक से ऊपर उठ चुके हैं, जो त्यागने योग्य है उसे त्याग चुके हैं, वे उत्तम हैं। अरिहन्त लोकोत्तम हैं।

दूसरे लोकोत्तम सिद्ध भगवान् हैं, क्योंकि वे पूर्णकाम हैं, जो कुछ पाना चाहिये वे उसे पा चुके हैं, उनके लिये प्राप्तव्य कुछ भी नहीं रह गया।

तीसरे उत्तम साधु हैं–**साध्नोति स्व-परकार्याणीति साधुः**–वे अपने लिये एवं लोक-कल्याण के लिये सब कुछ करते हैं, स्वयं सब कुछ त्यागते हैं दूसरों को लाभान्वित करने के लिये तथा स्वयं मुक्त होने के लिये साधना करते हैं और दूसरों को भी साधना-मार्ग प्रदर्शित करते हैं। वे जो कुछ भी पाते हैं केवल देने के लिये, संचित करने के लिये नहीं, अतः साधु भी लोकोत्तम हैं।

इस लोकोत्तमता की प्राप्ति हो सकती है लोकोत्तम–अरिहन्त, सिद्ध एवं साधु के मार्ग का अनुसरण करने पर। इसका ज्ञान हमें केवली–प्ररूपित धर्म द्वारा ही हो सकता है, अतः केवली–प्ररूपित धर्म भी लोकोत्तम है।

तीसरे 'शरण–सूत्र' में लोकोत्तम मंगल पुरुषों की शरण ग्रहण करने की भावना की गई है। यहां यह स्मरणीय है कि हम जिनकी शरण ग्रहण कर रहे हैं उन्होंने हमें कहा नहीं कि हमारी शरण ग्रहण करो, तभी तो वे लोकोत्तम हैं। यह भी स्मरणीय है कि '**शरणं गच्छामि**'–नहीं कहा, क्योंकि शरण जाना तो यात्रा का सूचक है। यात्रा बीच में रुक भी सकती है, यहां '**प्रपद्ये**' कहा गया है, जिसका अर्थ है 'शरण ग्रहण करता हूं'। पाने योग्य को पाकर कौन छोड़ता है और ग्रहण कर लेने में समर्पण का भाव है, अपने आपको जब समर्पित ही कर दिया तो अहंकार नष्ट हो गया। अहंकार नष्ट होते ही सभी मंगल–द्वार अनायास ही खुल जाते हैं, अतः तीसरे शरण–सूत्र में मंगलमय लोकोत्तम विभूतियों और लोकोत्तम मंगल–मार्ग के साधनभूत धर्म के प्रति समर्पण का उच्चतम भाव है।

इसीलिये प्रस्तुत त्रिसूत्री को मंगलपाठ कहा जाता है क्योंकि मंगलसूत्र में 'मंगलमय' का परिचय है, लोकोत्तम–सूत्र में निश्चय है और शरण सूत्र में समर्पण है। जब कोई भी व्यक्ति निश्चय–पूर्वक मंगल–पुरुषों और मंगल–मार्ग के प्रति समर्पित हो जाएगा तो उसका मंगल होगा ही।

सामूहिक–आलोचना

इच्छामि पडिक्कमिउं, जो मे देवसि अइयारो कओ, काइओ, वाइओ, माणसिओ, उस्सुत्तो, उम्मग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाउ, दुव्विंतिओ, अणायारो, अणिच्छियव्वो, असमणपावग्गो, णाणे तह दंसणे, चरित्ते सुएसामाइए, तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं, पंचण्हं महव्वयाणं, छण्हं जीवनिकायाणं, सत्तण्हं पिंडेसणाणं, अट्ठण्हं पवयण माऊणं, नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं, दसविहे समण धम्मे, समणाणं, जोगाणं, जं खंडियं, जं विराहियं, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

(शब्दार्थ एवं भावार्थ पहले दिया जा चुका है)

ईर्यापथिक–सूत्र

इच्छामि पडिक्कमिउं–इरिया वहियाए, विराहणाए, गमणा-गमणे, पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे, ओसा-उत्तिंग, पणग-दग, मट्टी-मक्कडा संताणा-संकमणे, जे मे जीवा विराहिया एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ-ठाणं संकामिया जीवियाओ ववरोविया, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

(शब्दार्थ एवं भावार्थ पहले दिया जा चुका है)

शय्या–सूत्र

इच्छामि पडिक्कमिउं पगामसिज्जाए, निगामसिज्जाए, संथारा उवट्टणाए, परियट्टणाए, आउट्टणाए, पसारणाए, छप्पइ-संघट्टणाए, कूइए, कक्कराइए, छीइए, जंभाइए, आमोसे, ससरक्खामोसे, आउलमाउलाए, सोअणवत्तियाए, इत्थीविप्परिया-सियाए[1], दिट्ठिविप्परियासियाए, मणविप्परियासियाए, पाण-भोयण-विप्परियासियाए, जो मे देवसि अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

शब्दार्थ–पडिक्कमिउं–(भगवन्) मैं प्रतिक्रमण करने की, (कैसे प्रतिक्रमण करने की), **इच्छामि**–इच्छा करता हूं, **पगामसिज्जाए**–मर्यादा विरुद्ध काल तक सोने से, **निगामसिज्जाए**–बार-बार सुकोमल शय्या पर लेटने से, **संथाराउव्वट्टणाए**–शय्या पर बार-बार करवटें बदलने से, **परियट्टणाए**–बार-बार शय्या-परिवर्तन से (अर्थात् भिन्न-भिन्न शय्याओं

1. साध्वी समुदाय 'इत्थीविप्परियासियाए' के स्थान पर 'पुरिसविप्परियासियाए' उच्चारण करें।

पर सोने से), **आउट्टणाए पसारणाए**–शय्या पर अयतनापूर्वक हाथ-पैरों को सिकोड़ने से एवं फैलाने से, **छप्पइ संघट्टणाए**–षट्पदी–जूं आदि के स्पर्श से, **कूइए**–कूकें मारने से अर्थात् निद्रा-प्रलाप एवं बिना मुंहपत्ती लगाए भाषण से, **कक्कराइए**–काम-भोगों का ध्यान करने से, **छीइए**–छींकने से, **जंभाइए**–बिना-यतना के उबासी लेने से, **आमोसे**–अयतना-पूर्वक शरीर को खुजलाने से, **ससरक्खामोसे**–सचित्त धूल से युक्त वस्त्रों के समेटने एवं उनके स्पर्श से, **आउलमाउलाए**–आकुलता-व्याकुलता से, **सोअण-वत्तियाए**–स्वप्न के निमित्त से अर्थात् स्वप्नावस्था में, **इत्थी-विप्प-रियासियाए**–स्त्री पर विपर्यास अर्थात् संयम-विरुद्ध होकर आसक्त होने से, **दिट्ठिविप्परियासियाए**–दृष्टि के विपर्यास से अर्थात् संयम-विरुद्ध दृश्य देखने से, **मणविप्परियासियाए**–मन से संयम-विरुद्ध आचरण करने से, **पाण-भोयण-विप्परियासियाए**–जल एवं भोजन सम्बंधी संयम-विरुद्ध भाव आने से, **जो**–यदि कोई, **मे**–मैंने, **अइयारो कओ**–अतिचार अर्थात् संयम-विरुद्ध आचरण किया हो, **तस्स मिच्छा मि दुक्कडं**–उनसे मैं पीछे हटता हूं, अर्थात् उनके लिए पश्चात्ताप करता हूं–मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

सरलार्थ–भगवन्! मैं प्रतिक्रमण करने की इच्छा करता हूं, (उन पापों से जैसे कि) मर्यादा-विरुद्ध समय तक सोने से, सुकोमल शय्या पर लेटने से, शय्या पर बार-बार करवटें बदलने से, बार-बार शय्या-परिवर्तन से, शय्या पर बार-बार हाथ-पैरों को सिकोड़ने एवं फैलाने से, जूं आदि के स्पर्श से, निद्रा-प्रलाप एवं बिना मुंहपत्ती लगाये भाषण से, काम-भोगों का ध्यान करने से, छींकने एवं बिना यतना के उबासी लेने से, अयतनापूर्वक शरीर को खुजलाने से, सचित्त धूल से युक्त वस्त्रों के समेटने एवं उनके स्पर्श से, आकुलता-व्याकुलता से, स्वप्नावस्था में स्त्री पर विपर्यास अर्थात् संयम-विरुद्ध होकर आसक्त होने से, संयम-विरुद्ध दृश्य देखने से, संयम-विरुद्ध मानसिक क्रिया-कलाप से और जल एवं भोजन सम्बन्धी संयम-विरुद्ध भाव आने से यदि मैंने कोई संयम-विरुद्ध आचरण किया हो तो मैं उससे पीछे हटता हूं, अर्थात् उसके लिये पश्चात्ताप करता हूं–मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

भावार्थ–उपर्युक्त शय्या-सूत्र में साधक शयन-सम्बन्धी अतिचारों की आलोचना के रूप में सोते समय या सोते हुए स्वप्नावस्था में शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक जो भी साध्वाचरण के विरुद्ध कार्य हुआ हो, किसी भी रूप में साधु-मर्यादा भंग हुई हो अथवा कोई विपरीत आचरण हुआ हो उसके लिये '**मिच्छा मि दुक्कडं**' के शब्दों में प्रायश्चित्त करता हुआ भविष्य में उनसे सावधान रहने के लिये यत्नशील होता है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि साधुत्व के क्षेत्र में एक जैन साधु ही ऐसा साधक है जो जागृत अवस्था में तो क्या स्वप्नावस्था की जिन क्रियाओं पर उसका कोई वश नहीं है, उनके होने पर भी वह भूल स्वीकार कर उसके लिये प्रायश्चित्त करता है, क्योंकि वह जानता है कि स्वप्न-क्रियाओं के पीछे भी उसकी जागृत अवस्थाओं की दुर्बलताएं ही काम कर रही हैं।

प्रस्तुत सूत्र में साधु के लिये प्रकारान्तर से कुछ आवश्यक निर्देश भी दिये गए हैं, जैसे कि बार-बार लेटना, करवटें बदलना और जिस किसी के बिस्तर पर लेट जाना, साधु के लिये उचित नहीं माना जा सकता। यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि बुरे विचार मन को विक्षुब्ध कर देते हैं और विक्षोभयुक्त दशा में नींद नहीं आती है, अतः साधु को दिन-भर सद्-विचारों के वातावरण में रहना चाहिये, मानसिक तनाव जहां साधु-चर्या में बाधक होता है, वहां अनेक रोगों को भी जन्म देता है।

इसी प्रकार साधु को जागृति में तो क्या स्वप्न में भी बुरा विचार मन में नहीं लाना चाहिये, यदि उससे स्वप्नावस्था में भी कोई दुष्कृत हो जाय तो उसके लिये भी उसे पश्चात्ताप करना चाहिये।

प्रकाम-शय्या–का अर्थ है मनमाने ढंग से सोना और **निकाम-शय्या** का अर्थ है नींद आये बिना ही बार-बार लेटते रहना।

यहां '**देवसि**' शब्द दिन का वाचक है। यद्यपि साधु के लिये दिवा-शयन निषिद्ध है, किन्तु आपवादिक स्थिति में–रोगावस्था अथवा थकान आदि होने पर वह शयन कर भी सकता है, अतः दिन में शयन करने पर जो अतिचार लग सकते हैं, प्रस्तुत सूत्र में उन्हीं अतिचारों की आलोचना की गई है।

गोचरी-चर्या-सूत्र

पडिक्कमामि गोयरचरियाए, भिक्खायरियाए, उग्घाड- कवाड-उग्घाडणाए, साणावच्छादारासंघट्टणाए, मंडीपाहुडियाए, बलि-पाहुडियाए, ठवणापाहुडियाए, संकिए, सहसागारिए, अणेसणाए, पाणभोयणाए, बीयभोयणाए, हरियभोयणाए, पच्छाकम्मियाए, पुरेकम्मियाए, अदिट्ठहडाए, दग-संसट्ठ-हडाए, रयसंसट्ठहडाए, पारिसाडणियाए, परिट्ठावणियाए, ओहासण-भिक्खाए, जं उग्गमेणं, उप्पायणेसणाए, अपरिसुद्धं, परिग्गहियं, परिभुत्तं वा, जं न परिट्ठवियं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

शब्दार्थ-**पडिक्कमामि**-भगवन्! मैं आलोचना-पूर्वक पीछे हटता हूं, **गोयरचरियाए**-गोचरी रूप, **भिक्खायरियाए**-भिक्षा ग्रहण करते समय (लगे दोषों से, जैसे कि, **उग्घाड-कवाड-उग्घाडणाए**-कुछ खुले किवाड़ों को खोलने से, **साणा-वच्छा-दारा-संघट्टणाए**-कुत्तों, बछड़ों और बच्चों को लांघकर जाने से, **मंडी पाहुडियाए**-अग्रपिण्ड (हन्तकार) आदि की भिक्षा लेने से, **बलि पाहुडियाए**-बलि कर्मार्थ रखे हुए अन्न की भिक्षा लेने से, **ठवणा-पाहुडियाए**-भिक्षुओं के लिये निकालकर रखे हुए अन्न आदि की भिक्षा लेने से, **संकिए**-शंकायुक्त आहार ग्रहण करने से, **सहसागारिए**-अयतना-पूर्वक सहसा आहार ग्रहण करने से, **अणेसणाए**-साधु-वृत्ति के विपरीत आहार ग्रहण करने से, **पाण-भोयणाए**-कीटाणु युक्त भोजन ग्रहण करने से, **बीय भोयणाए**-बीज युक्त पदार्थ ग्रहण करने से , **हरिय भोयणाए**-हरित वाले पदार्थ ग्रहण करने से, **पच्छाकम्मियाए**-आहार को लेने के बाद जो दोष लगता हो, उससे, **पुरेकम्मियाए**-आहार को लेने के पहले जो दोष लगता हो, उससे, **अदिट्ठ-हडाए**-अदृष्ट वस्तु का आहार ग्रहण करने से, **दग-संसट्ठ-हडाए**-सचित्त जल से युक्त आहार लेने से, **रय संसट्ठ-हडाए**-सचित्त रज से युक्त आहार ग्रहण करने से, **पारि-साडणियाए**-इधर-उधर बिखरता हुआ आहार ग्रहण करने से, **परिट्ठा-वणियाए**-किसी पात्र में रखे हुए पदार्थ को निकालकर उसी पात्र में दिये

जाने वाला आहार ग्रहण करने से, **ओहासण-भिक्खाए**—भोजनशाला से भिन्न स्थान पर बैठे दाता से किसी पदार्थ के विषय में पूछकर वह पदार्थ लेने से, **जं**—और जो भी (इस प्रकार), **उग्गमेणं-उप्पायणेसणाए**— उद्‌गमन, उत्पादन और एषणा दोषों से युक्त आहार ग्रहण करने से, **अपरिसुद्धं-परिग्गहियं**—अशुद्ध आहार ग्रहण करने से, **परिभुत्तं**—(इस प्रकार के दोषों से युक्त आहार का) उपभोग करने से, **जं न परिट्ठवियं**—(और) गिराने योग्य आहार को न गिराने से, **तस्स**—इन (दिवस सम्बंधी दोषों से), **मिच्छामि दुक्कडं**—जो दुष्कृत अर्थात् पाप हुआ है वह मिथ्या हो।

सरलार्थ—भगवन्! मैं आलोचना-पूर्वक गोचरी रूप भिक्षा करते समय लगे दोषों से पीछे हटता हूं, जैसे कि भिक्षा के लिये जाने पर कुछ खुले किवाड़ों को खोलने से, कुत्तों, बछड़ों और बच्चों को लांघ कर भिक्षा लेने से, अग्रपिण्ड (हन्तकार) आदि की भिक्षा लेने से, बलि-कर्मार्थ रखे हुए अन्न की भिक्षा लेने से, भिक्षुओं के लिये निकाल कर रखे हुए अन्न आदि की भिक्षा लेने से, शंका-युक्त आहार ग्रहण करने से, अयतना-पूर्वक सहसा आहार ग्रहण करने से, साधु-वृत्ति के विपरीत आहार ग्रहण करने से, कीटाणु युक्त (पाण) आहार ग्रहण करने से, बीज युक्त पदार्थों को ग्रहण करने से, हरित वाले पदार्थों को ग्रहण करने से, आहार लेने से पहले लगने वाले दोषों से, आहार-ग्रहण करने के बाद लगने वाले दोषों से, अदृष्ट वस्तु का आहार ग्रहण करने से, सचित्त जल से युक्त आहार ग्रहण करने से, सचित्त रज से युक्त आहार ग्रहण करने से, इधर-उधर बिखरता हुआ ग्रहण करने से, किसी पात्र में रखे हुए परिष्ठापनीय पदार्थ को निकाल कर उसी पात्र में दिये जाने वाला आहार ग्रहण करने से, भोजन-शाला से भिन्न स्थान पर बैठे दाता से किसी पदार्थ के विषय में पूछ कर वह पदार्थ लेने से, उद्‌गमन, उत्पादन और एषणा दोषों से युक्त आहार ग्रहण करने से, दोषयुक्त आहार का उपभोग करने से और परिष्ठापनीय (गिराने योग्य) आहार को न गिराने से, जो दोष मुझे दिन भर में लगे हैं उन दोषों से मैं पीछे हटता हूं—मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।

भावार्थ—कोई भी प्राणी आहार-पानी के बिना नहीं रह सकता, कोई सर्वथा निराहार रहे यह असम्भव ही है। साधु-साध्वी भी इसके अपवाद

नहीं हैं, उन्हें भी साधनामय जीवन व्यतीत करने के लिये आहार-पानी ग्रहण करना ही पड़ता है, परन्तु साधु जीने के लिये खाता है, खाने के लिये जीता नहीं है, अतः वह जो कुछ खाता-पीता है उसके सम्बन्ध में उसे पूर्ण विवेक रखना पड़ता है।

जैन साधु आहार-पानी गोचरी के रूप में गृहस्थों के घरों से ग्रहण करता है। गोचरी का अभिप्राय यह है कि जैसे गौ चरने योग्य भूमि पर से थोड़ी-थोड़ी घास चरती है, उसी प्रकार साधु को गृहस्थों के घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार-पानी लेना चाहिये जिससे किसी गृहस्थ पर उसकी भोजन-व्यवस्था का भार न पड़े।

जैन साधु के लिये नवकोटि शुद्ध आहार ग्रहण करने का विधान है, जैसे कि–वह अपने लिये भोजन न पकाये, दूसरों से कह कर अपने लिये भोजन न बनवाये, किसी की भोजन बनाने की क्रिया का अनुमोदन न करे, बना बनाया भोजन खरीद कर न खाए, किसी से खरीदवा कर न खाये और अपने लिये भोजन खरीदने वाले का समर्थन भी न करे, किसी से डरा-धमका कर भोजन न ले, किसी को डरवा-धमकवा कर भोजन ग्रहण न करे और अपने भोजन के लिये किसी को डराने-धमकाने के लिये किसी का समर्थन भी न करे, अर्थात् प्रेरणा न दे।

सूर्योदय से पूर्व आहार लेकर सूर्योदय होते ही खा लेना, प्रथम प्रहर में लिया हुआ आहार तीन प्रहर के बाद खाना, दो कोस से अधिक दूरी तक ले जाया गया भोजन खाना और आवश्यकता से अधिक भोजन करना भी साधु के लिये निषिद्ध है।

मण्डी-पाहुडियाए–(मंडी-प्राभृतकया)–मंडी-शब्द का अर्थ भोजन-पात्र है। भोजन-पात्र में से पहले कुछ अंश धर्मार्थ निकाल लेने की प्रथा है, जिसे पंजाब में हंदा (हन्तकार) कहा जाता है, यहां उपलक्षण से 'मण्डी' वह धर्मार्थ निकाला हुआ अन्न है, उसको भिक्षा में लेना साधु के लिये दोष-कारक है।

आग पर सिकते हुए 'बाटी' आदि पदार्थ भी मण्डी कहलाते हैं, उसी से 'मांडा' शब्द बन गया है। हलवा-माण्डा पंजाब में बहुत प्रसिद्ध है। कोयलों

पर सिकती रोटी जो बिना चुपड़ी होती है, उसे भी मंडी या मांडा ही कहा जाता है। कोयलों पर या उपलों आदि पर से उठा कर दी गई मंडी की भिक्षा भी साधु के लिये दोषजनक है।

बलि-पाहुडियाए (बलिप्राभृतकया)—भोजन बन जाने पर गौ, कौए, कुत्ते आदि के लिये तथा दिशाओं में ग्रामदेवता आदि के लिये निकाला हुआ भोजनांश बलि कहलाता है। बलि के निमित्त रखे हुए अन्न को ग्रहण करना भी साधु के लिये दोष कारक है।

पाण-भोयणाए (प्राण-भोजनया)—इस पद में '**पाणक्कमणे**' शब्द के समान 'पाण' शब्द प्राणीवाचक है। बासी पदार्थों में एवं सड़े-गले पदार्थों में प्रायः सूक्ष्म कीटाणु (निगोद) उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसा कीटाणु-युक्त आहार साधु-साध्वी के लिये दोष-कारक होता है।

पुरेकम्मियाए (पूर्वकर्मणा)—से अभिप्राय है यदि दाता साधु को भोजन देने से पहले सचित्त जल से हाथ धोकर आहार देता है तो उस आहार में अप्रासुक जल के अंश रह जाने से वह आहार साधु के लिये दोष-कारक होता है।

पच्छा-कम्मियाए (पश्चात्कर्मणा)—से अभिप्राय है कि साधु को आहार देकर यदि गृहस्थ पात्रों को या हाथों को सचित्त जल से धो लेते हैं तो वह सचित्त जल का प्रयोग साधु के निमित्त से होने के कारण वह आहार भी साधु के लिये दोष-कारक माना गया है।

पारिट्ठावणियाए (प्रतिष्ठापनिकया)—इससे यह अभिप्राय है कि साधु के पात्र में भिक्षारूप में प्राप्त कुछ आहार-पानी हो, साधु अच्छा आहार प्राप्त होता देख कर यदि पहले आहार को फैंक देता है और नया आहार ग्रहण कर लेता है तो यह परिष्ठापनिका दोष है।[1]

(उद्गम, उत्पादन और एषणा दोष परिशिष्ट में देखिए।)

---

1. आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने इसे विशेष स्पष्ट न करके "बिना कारण आहार की परिष्ठापना करना," ऐसा अर्थ लिखा है जो अभिप्राय की दृष्टि से उचित ही है। —सम्पादक

काल–प्रतिलेखना सूत्र

पडिक्कमामि चउकालं सज्झायस्स अकरणयाए, उभओ कालं भंडोवगरणस्स अप्पडिलेहणाए, दुप्पडिलेहणाए, अप्पमज्जणाए, दुप्पमज्जणाए, अइक्कमे, वइक्कमे, अइयारे, अणायारे, जो मे देवसी अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

शब्दार्थ–**पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण करता हूं, **चउकालं**–दिन और रात के प्रथम तथा अंतिम इन चार प्रहरों में, **सज्झायस्स**–स्वाध्याय के, **अकरणयाए**–न करने से, **उभओकालं**–प्रातः और सायं दोनों कालों में, **भंडोवगरणस्स**–पात्रों तथा अन्य उपकरणों की, **अप्पडिलेहणाए**–प्रतिलेखना के अभाव में, **दुप्पडिलेहणाए**–यथोचित प्रतिलेखना न करने से, **अप्पमज्जणाए**–प्रमार्जन के अभाव से, **दुप्पमज्जणाए**–यथोचित प्रमार्जन न करने से, **अइक्कमे**–अतिक्रम होने से, **वइक्कमे**–व्यतिक्रम होने से, **अइयारे**– अतिचार (और), **अणायारे**–अनाचार की अवस्था में, **जो**–जो (भी), **मे**–मैंने, **देवसिओ**–दिवस सम्बंधी, **अइयारो**–अतिचार अर्थात् पाप, **कओ**–किया हो, **तस्स**–उसका, **दुक्कडं**–दुष्कृत अर्थात् पाप, **मि**–मेरे लिए, **मिच्छा**–मिथ्या हो, अर्थात् मैं उस पाप से मुक्त होने की भावना करता हूं।

सरलार्थ–(भगवन्!) मैं प्रतिक्रमण करता हूं, अर्थात् पीछे हटता हूं, दिन के प्रथम और अन्तिम तथा रात के प्रथम और अन्तिम कालों में स्वाध्याय न करने से, प्रातःकाल और सायंकाल के समय पात्रों तथा अन्य साधना-उपकरणों की प्रतिलेखना के अभाव से, यथोचित प्रतिलेखना न करने से, प्रमार्जन के अभाव से तथा यथोचित प्रमार्जन न करने से, अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार के कारण जो भी मैंने दिन भर में अतिचार अर्थात् पाप किया है, वह पाप मेरे लिये मिथ्या हो–मैं उस पाप से मुक्त होने की भावना करता हूं।

भावार्थ–प्रस्तुत सूत्र से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि साधु के लिये जैसे प्रतिदिन प्रतिक्रमण आवश्यक है, वैसे ही उसके लिये चार कालों में

स्वाध्याय भी आवश्यक है, इसीलिए जिनदास महत्तर कहते हैं–'**दिया-पढम-चरिमासु, रतिं पि पढम चरिमासु च पोरसीसु सज्झाओ अवस्स कातव्वो।**' स्वाध्याय न करने पर साधु दोष का भागी बनता है। यदि किसी विशेष एवं अपरिहार्य कारण से वह स्वाध्याय से विमुख हो जाता है तो उसी दोष की निवृत्ति के लिये यह प्रतिक्रमण किया जाता है।

स्वाध्याय का सामान्य अर्थ आगमों एवं आगमों की व्याख्या आदि करने वाले ग्रन्थों का अध्ययन समझा जाता है, किन्तु इसका विशेष अर्थ–**स्वस्य- आत्मनोऽध्ययनम्-इति स्वाध्यायः**, अर्थात् अपने आपका अध्ययन करना–आत्म-चिन्तन करना भी स्वाध्याय है। एक अन्य व्युत्पत्ति के अनुसार **सु+अधि+आयः= स्वाध्यायः**–अर्थात् बाह्य जगत् से अपने अन्दर लौटना ही स्वाध्याय है।

रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में आगम-वचना नहीं हो सकती, क्योंकि साधु दीपक आदि जला कर पढ़ नहीं सकता, अतः यहां स्वाध्याय से अभिप्राय है–आगमों के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर करना (पृच्छना), दिन में पढ़े हुए पाठों की आवृत्ति करना (परिवर्तना), जो कुछ पढ़ा है उसके विषय में चिन्तन करना (अनुप्रेक्षा), और अध्ययन द्वारा प्राप्त ज्ञान को सुनना अथवा सुनाना (धर्मकथा)। ये चारों कार्य अंधेरे में भी हो सकते हैं।

प्रतिलेखना–वैसे तो गृहस्थ को भी अपने पात्रों एवं जीवनोपयोगी वस्तुओं की अच्छी तरह देख-भाल करके, उन्हें झाड़-पोंछकर काम में लाना चाहिये, किन्तु उसके लिये यह आवश्यक होते हुए भी अपरिहार्य नियम नहीं है। साधु के लिये प्रतिलेखना अर्थात् पात्रों एवं अन्य उपकरणों को प्रातः-सायं देख-भाल करके उन्हें झाड़ना-पोंछना अत्यावश्यक एवं अपरिहार्य नियम है।

अप्रतिलेखना–का अर्थ है वस्त्र-पात्र आदि को बिल्कुल न देखना।

दुष्प्रतिलेखना–का अर्थ है यथाविधि, यथोचित ध्यान देकर न देखना।

अप्रमार्जना–का अर्थ है–पात्रों एवं वस्त्रों आदि की झाड़-पोंछ न करना।

दुष्प्रमार्जना–से अभिप्राय है वस्त्रों-पात्रों आदि की यथोचित ध्यान देकर झाड़-पोंछ न करके, केवल रूढि का पालन मात्र करना।

अतिक्रम—का अर्थ है ग्रहण किए हुए व्रतों को भंग करने की बात सोचना।

व्यतिक्रम—का अर्थ है ऐसे काम करने लग जाना जिन से व्रत भंग हो।

अतिचार—का अर्थ है व्रत भंग होने के साधन जुटा लेना और उनको अंशत: भंग करना आरम्भ कर देना।

अनाचार—का अर्थ है गृहीत व्रतों को भंग कर देना।

प्रतिक्रमण में अतिक्रम आदि ऐसे चार दोषों से मुक्ति की भावना की जाती है, जो हो गए हों असावधानी या प्रमाद से। प्रतिदिन जान-बूझ कर अतिक्रम आदि दोषों में लिप्त होना और फिर यह समझना कि प्रतिक्रमण से वे दोष दूर हो जाएंगे यह असम्भव है। जानबूझकर किए गए दोषों से मुक्ति तो प्रायश्चित्त ग्रहण से ही हो सकती है।

असंयम–बन्धन–दण्ड–गुप्ति–शल्य–गौरव–विराधना सूत्र

पडिक्कमामि–एगविहे असंजमे।

पडिक्कमामि दोहिं बंधणेहिं–राग बंधणेणं, दोस बंधणेणं।

पडिक्कमामि तिहिं दंडेहिं–मणदंडेणं, वयदंडेणं, कायदंडेणं।

पडिक्कमामि तिहिं गुत्तीहिं–मणगुत्तीए, वयगुत्तीए, कायगुत्तीए।

पडिक्कमामि तिहिं सल्लेहिं–माया सल्लेणं, नियाण सल्लेणं, मिच्छा-दंसण-सल्लेणं।

पडिक्कमामि तिहिं गारवेहिं–इड्ढी-गारवेणं, रस-गारवेणं, साया-गारवेणं।

पडिक्कमामि तिहिं विराहणाहिं–णाण-विराहणाए, दंसण-विराहणाए, चरित्त-विराहणाए।

शब्दार्थ–पडिक्कमामि–मैं प्रतिक्रमण करता हूं अर्थात् पीछे हटता हूं, **एगविहे असंजमेणं**–एक प्रकार के असंयम से। **पडिक्कमामि**–मैं

प्रतिक्रमण करता हूं, **दोहिं बंधणेहिं**–दो प्रकार के बन्धनों से (जैसे कि), **राग बंधणेणं**–रागरूप बंधन से, **दोस बंधणेणं**–द्वेष रूप बंधन से, **पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण करता हूं, **तिहिं दंडेहिं**–तीन प्रकार के दण्डों से (जैसे कि), **मणदंडेणं**–मन-दण्ड से, **वयदंडेणं**–वचन-दण्ड से, **कायदंडेणं**–काय-दण्ड से, **पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण करता हूं, **तिहिं गुत्तीहिं**–तीन गुप्तियों से (जैसे कि), **मण-गुत्तीए**–मन की गुप्ति से, **वय-गुत्तीए**–वचन-गुप्ति से, **काय-गुत्तीए**–काया की गुप्ति से। **पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण करता हूं, **तिहिं सल्लेहिं**–तीन शल्यों से (जैसे कि), **माया-सल्लेणं**–माया रूप शल्य से, **नियाण सल्लेणं**–निदान रूप शल्य से, **मिच्छादंसण-सल्लेणं**–मिथ्या-दर्शन रूप शल्य से, **पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण करता हूं, **तिहिं गारवेहिं**–तीन गौरवों से (जैसे कि), **इड्ढी गारवेणं**–ऋद्धि गौरव से, **रस-गारवेणं**–रसों के गौरव से, **साया गारवेणं**–साता-सम्बंधी गौरव से, **पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण करता हूं, **तिहिं विराहणाहिं**–तीन प्रकार की विराधनाओं से (जैसे कि), **णाण विराहणाए**–ज्ञान की विराधना से, **दंसण विराहणाए**–दर्शन-सम्बंधी विराधना से, **चरित्त विराहणाए**–चारित्र सम्बंधी विराधना से।

सरलार्थ–मैं एक ही प्रकार के असंयम अर्थात् साध्वाचरण से विपरीत कार्यों से प्रतिक्रमण करता हूं अर्थात् असंयमाचरण न करने के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध होता हूं।

मैं रागरूप और द्वेषरूप दोनों बन्धनों से प्रतिक्रमण करता हूं, अर्थात् उनसे मुक्त रहने की भावना भाता हूं।

मैं मन की दुष्प्रवृतियां, वचन की दुष्प्रवृत्तियां और काया की दुष्प्रवृत्तियां रूप तीन प्रकार के दण्डों से पीछे हटता हूं, अर्थात् इनसे बचने की प्रतिज्ञा करता हूं।

मैं मन-गुप्ति, वचन-गुप्ति और काय-गुप्ति रूप तीन गुप्तियों से विपरीत आचरण रूप दोषों से प्रतिक्रमण करता हूं, अर्थात् तीनों गुप्तियों का सावधानी से पालन करने की प्रतिज्ञा करता हूं।

मैं छल-कपट रूप माया-शल्य से, सांसारिक भोग भोगने की कामना से किये गए तपश्चरण रूप निदान शल्य से और सत्य पर श्रद्धा न करके असत्य पर श्रद्धा करना रूप मिथ्यादर्शन शल्य से प्रतिक्रमण करता हूं-अर्थात् तीनों शल्यों से दूर रहने की भावना भाता हूं।

मैं पद, सत्कार एवं मान-प्रतिष्ठा रूप ऋद्धि-गौरव से, नाना प्रकार के स्वादिष्ट पक्वान्नों और दूध, मलाई, मक्खन आदि पदार्थों की सुलभता-जन्य प्राप्ति के गौरव से और शारीरिक शक्ति एवं स्वास्थ्य आदि के बने रहने के गौरव से, प्रतिक्रमण करता हूं, अर्थात् मैं समृद्धि-अभिमान, अच्छे खाद्य पदार्थों की सुलभता के अभिमान और शारीरिक स्वास्थ्य के अभिमान से रहित रहने की प्रतिज्ञा करता हूं।

मैं ज्ञान एवं ज्ञानियों के शास्त्रों तथा उनके स्वाध्याय आदि की अवहेलना रूप ज्ञान-विराधना से, सम्यक्त्व एवं सम्यक्त्व धारणा करने वालों की अवहेलना रूप दर्शन-विराधना एवं अहिंसा, सत्य आदि एवं उनका पालन करने वालों की अवहेलना रूप चारित्र-विराधना से प्रतिक्रमण करता हूं, अर्थात् इनसे दूर रहने की प्रतिज्ञा करता हूं।

भावार्थ-यहां संग्रहनय की दृष्टि से संयम-विरुद्ध सभी आचरणों को 'एक विध असंयम' कह कर उनका ग्रहण कर लिया गया है। अतः साधक की यह भावना है कि मैंने संयम-विरुद्ध कोई भी आचरण किया हो उससे उत्पन्न दोष के लिये प्रतिक्रमण करता हूं।

राग-द्वेष-राग और द्वेष ये दोनों एक ही डण्डे के दो सिरे हैं, जिसके हृदय में किसी के प्रति यदि राग उत्पन्न होता है तो निश्चित ही उसकी हृदय-भूमि में द्वेष का अंकुर भी अनायास ही उत्पन्न हो जाता है। राग और द्वेष के कारण ही मनुष्य अनेक प्रकार के कर्म-बन्धनों में बंधता रहता है, अतः साधक दोनों से मुक्त होने की प्रतिज्ञा करता है।

दण्ड-जिससे आध्यात्मिक सम्पदा नष्ट हो उसे 'दण्ड' कहा जाता है। मन का वश में न रहना, बुरे विचार करना अर्थात् मानसिक नियन्त्रण का अभाव ही 'मन-दण्ड' है। वाणी को वश में न रखकर किसी को अपशब्द कहना, व्यर्थ की बातें करना-गप्पें हांकना और अपनी मान-बड़ाई करना

आदि दोष 'वचन-दण्ड' कहलाते हैं। किसी को मारना-पीटना, व्यभिचारी प्रवृत्तियां करना, कुचेष्टाएं करना आदि को 'काय-दण्ड' कहा जाता है। साधक इस सूत्र में इन तीनों दण्डों से बचने की भावना भाता है।

गुप्ति—गुप्ति-सूत्र में मन-गुप्ति से अभिप्राय यह है कि मानसिक संकल्प-विकल्पों को रोक कर सम्यक्त्व में प्रवृत्ति, वचन-गुप्ति से अभिप्राय है वाणी पर नियंत्रण रखते हुए वाणी द्वारा मंगल वाक्यों का उच्चारण और काय-गुप्ति से अभिप्राय है शारीरिक क्रियाओं को वश में रख कर इन्द्रियों को शुभ कार्यों में प्रवृत्त करना। साधक इस सूत्र द्वारा गुप्तियों के सम्बन्ध में हुए प्रमाद-दोष से बचने के लिये प्रतिक्रमण करता है, वह गुप्तियों को दोष नहीं मानता।

मन-दण्ड, वचन-दण्ड और काय-दण्ड को जान कर मन, वचन एवं काया पर नियन्त्रण किया जाता है, तथा गुप्तियों द्वारा मन, वचन और काया को शुभ में प्रवृत्त किया जाता है।

शल्य—शल्य का अर्थ है ऐसी प्रवृत्तियां जो साधक के अन्तर् में कांटे की तरह गड़ कर उसे अन्दर ही अन्दर सालती रहती हैं—पीड़ित करती रहती हैं। उसे शान्त नहीं रहने देती हैं।

माया-शल्य—का अर्थ है छल-कपट-मय व्यवहार करना, ढोंग रचना और पाखण्ड करना।

निदान-शल्य—का अर्थ है तुच्छ एवं विनश्वर सांसारिक भोगों की प्राप्ति के लिये धर्माराधना करना, अर्थात् फल की कामना से तपश्चरण आदि करना।

मिथ्यादर्शन-शल्य—का अर्थ है तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा प्ररूपित सत्य धर्म पर श्रद्धा न करके ऐसे कार्य करना जो आत्मा के लिये अहितकर हों। इसी शल्य के कारण सम्यग्दर्शन का विघात होता है।

गौरव—यहां 'गौरव' शब्द का अर्थ है अभिमान। समृद्धियों आदि की प्राप्ति बुरी नहीं होती, उनकी प्राप्ति पर अभिमान करना बुरा होता है। यद्यपि इस पापमूल अभिमान के अनेक भेद हो सकते हैं, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से त्रिविध अभिमान-भेदों में सभी का समावेश हो जाता है। धन-प्राप्ति,

अधिकार-प्राप्ति, मान-सम्मान की वृद्धि आदि को 'ऋद्धि-गौरव' कहा जाता है। खाने के लिये अच्छी-अच्छी मिठाइयों की प्राप्ति, दूध-दही-मलाई-मक्खन आदि की अधिकता और नानाविध खाद्य-पदार्थों की सुलभता का मान 'रस-गौरव' कहलाता है और शारीरिक बल, नीरोगता एवं स्वस्थ जीवन की प्राप्ति का अभिमान 'साता-गौरव' कहलाता है।

विराधना–ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र रूप रत्नत्रय का विधिवत् पालन न करना, दोषों से इनकी रक्षा न करना, इनके प्रति उपेक्षा भाव रखना विराधना है। साधक को संयमी जीवन की सुरक्षा के लिए इस विराधना से बचना आवश्यक है। यदि प्रमादवश उससे कोई विराधना हो जाती है तो वह प्रातः-सायं उसके लिये प्रतिक्रमण कर लेता है।

कषाय–संज्ञा–विकथा–ध्यान–सूत्र

पडिक्कमामि चउहिं कसाएहिं–कोह-कसाएणं, माण-कसाएणं, माया-कसाएणं, लोह-कसाएणं। पडिक्कमामि चउहिं सण्णाहिं–आहार-सण्णाए, भय-सण्णाए, मेहुण-सण्णाए, परिग्गह-सण्णाए। पडिक्कमामि चउहिं विकहाहिं–इत्थी-कहाए, भत्त-कहाए, देस-कहाए, राय-कहाए। पडिक्कमामि चउहिं झाणेणं–अट्टेणं झाणेणं, रुद्देणं झाणेणं, धम्मेणं झाणेणं, सुक्केणं झाणेणं।

शब्दार्थ–पडिक्कमामि–मैं प्रतिक्रमण करता हूं, **चउहिं कसाएहिं**–चारों कषायों से (जैसे कि), **कोह-कसाएणं**–क्रोध रूप कषाय से, **माण-कसाएणं**–मान रूप कषाय से, **माया-कसाएणं**–माया रूप कषाय से (और), **लोह-कसाएणं**–लोभ रूप कषाय से, **पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण करता हूं, **चउहिं सण्णाहिं**–चार प्रकार की संज्ञाओं से (जैसे कि), **आहार-सण्णाए**–आहार संज्ञा से, **भय-सण्णाए**–भय-संज्ञा से, **मेहुण-सण्णाए**– मैथुन-संज्ञा से (और), **परिग्गह-सण्णाए**–परिग्रह-संज्ञा से, **पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण करता हूं, **चउहिं विकहाहिं**–चार

प्रकार की विकथाओं से (जैसे कि), **इत्थी कहाए**–स्त्री-कथा से, **भत्त-कहाए**–भक्त-कथा से, **देस-कहाए**–देश-कथा से (और), **राय-कहाए**–राज-कथा से, **पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण करता हूं, **चउहिं झाणेणं**–चार प्रकार के ध्यान से (जैसे कि), **अट्टेणं झाणेणं**–आर्त्त-ध्यान से, **रुद्देणं झाणेणं**–रौद्र ध्यान से, **धम्मेणं झाणेणं**–धर्म-ध्यान से (और), **सुक्केणं झाणेणं**–शुक्ल ध्यान से।

सरलार्थ–मैं क्रोध-कषाय, मान-कषाय, माया-कषाय और लोभ-कषाय रूप चारों कषायों के कारण उत्पन्न दोषों से प्रतिक्रमण करता हूं, अर्थात् इन चारों से दूर हटता हूं।

मैं आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा और परिग्रह-संज्ञा नामक चारों संज्ञाओं के कारण उत्पन्न दोषों से प्रतिक्रमण करता हूं, अर्थात् उनसे बचने की प्रतिज्ञा करता हूं।

मैं स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा और राज-कथा नामक चारों विकथाओं के कहने-सुनने से उत्पन्न दोषों से प्रतिक्रमण करता हूं।

मैं आर्त-ध्यान, रौद्रध्यान रूप दो बुरे ध्यान करने के कारण और धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान में विधिवत् प्रवृत्त न होने के कारण उत्पन्न दोषों से प्रतिक्रमण करता हूं।

भावार्थ–कषाय–कषाय शब्द के अनेक अर्थ हैं। पहली व्युत्पत्ति के अनुसार दुःख रूपी धान्य को पैदा करने वाले, खेत का कर्षण करने वाले अर्थात् उसे फलने के योग्य बनाने वाले दोषों को कषाय कहा जाता है।[1]

दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार 'कष' का अर्थ है संसार। जिन दोषों के कारण संसार की प्राप्ति हो, अर्थात् संसार-चक्र में आवागमन बना रहे, उन दोषों को कषाय कहा जाता है।[2] क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार दुर्गुणों को कषाय कहा जाता है। साधक को ये दुर्गुण जीवन में नहीं आने देने चाहिएं, यदि किसी समय प्रमादवश आ जाएं तो उसके लिये प्रतिक्रमण करके दोष-मुक्त होने की भावना की जाती है।

---

1. दुखशस्यं कर्म-क्षेत्रं कृषन्ति फलवत्कुर्वन्ति इति कषायाः। –आचार्य वीरसेन।
2. कष्यते प्राणी विविधदुखैरस्मिन्निति कषा–संसारस्तस्य आयो लाभो येभ्यस्ते कषायाः।

संज्ञा–सामान्य रूप से संज्ञा शब्द का अर्थ 'नाम' होता है, किन्तु जैन संस्कृति में संज्ञा शब्द 'पूर्वकृत कर्मों के उदय से होने वाली विकृत इच्छा' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यद्यपि आकाश के समान इच्छाएं अनेक हैं, किन्तु समस्त इच्छाओं को सम्यक् और विकृत इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। विकृत इच्छाओं को चार वर्गों में बांट दिया गया है, जैसे कि–

आहार-संज्ञा–भोजन की विकृत इच्छा। क्षुधा की निवृत्ति के लिये भोजन की इच्छा करना बुरा नहीं है और ऐसी इच्छा को विकृत इच्छा नहीं कहा जा सकता, किन्तु पेटूपन और चटोरेपन से प्रेरित होकर मर्यादाहीन भोजनेच्छा को विकृत माना जाता है, इसे ही 'आहार-संज्ञा' कहा गया है।

भय-संज्ञा–किसी भी हिंसक प्राणी से भयभीत होना, भय संज्ञा है। भय मनुष्य की ही नहीं प्राणीमात्र की सामान्य प्रवृत्ति है, यह भय-संज्ञा प्रत्येक संसारी जीव में प्राप्त होती है, किन्तु भयभीत वही होता है जो दोषी है, अपराधी है, चोर है, डाकू है, झूठ बोलने वाला है, कपट व्यवहार करने वाला है। अतः साधक पाप-कर्म में प्रवृत्ति करने से डरता है। मूल गुणों तथा उत्तर गुणों को धारण कर सब पापों से मुक्त होने का प्रयास करता है, अतः वह 'भय' से भी मुक्त हो जाता है किन्तु कभी-कभी पूर्व जन्मार्जित मोहनीय कर्म के उदय से उसमें भी भय-वृत्ति जाग उठती है, अतः वह व्यर्थ की आशंकाओं से भयभीत होने लगता है–ऐसी ही भयवृत्ति को 'भय-संज्ञा' कहा गया है।

मैथुन-संज्ञा–काम-वासना को 'मैथुन संज्ञा' कहा जाता है। साधु जीवनभर के लिये अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करता है, अतः उसे वासना को पास भी फटकने नहीं देना चाहिये। यदि किसी अश्लील बात को सुनकर, अश्लील दृश्य को देखकर, अथवा ऐसे किसी अन्य कारण से वासना जागृत हो जाये तो उसे 'मैथुन-संज्ञा' कहा जाता है। साधु-साध्वी प्रतिक्रमण द्वारा वासना पर–मैथुन-संज्ञा पर विजयी होने के लिए प्रतिक्रमण करते हैं।

परिग्रह-संज्ञा–साधु अपरिग्रह व्रती होता है। अतः वह जीने भर के लिये उपयोगी वस्त्र एवं साधना-उपकरण अपने पास रखता है। उससे अधिक

रखने की इच्छा उसके लिये 'परिग्रह-संज्ञा' है। साधक परिग्रह-संज्ञा पर विजयी होने के लिये प्रतिक्रमण करता है।

विकथा–संयम-विरुद्ध बातों को विकथा कहा जाता है। स्त्री-कथा से मैथुनसंज्ञा प्रबल हो उठती है, अतः उसके त्याग का नियम है। भक्त-कथा अर्थात् अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट खाद्य पदार्थों की चर्चा से आहार-संज्ञा परिवर्धित होती है, अतः भक्त-कथा के त्याग का विधान है। देश-कथा से यह अभिप्राय नहीं कि साधु को देश-भक्ति से विमुख रहना चाहिये, या अपने राष्ट्र के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं करनी चाहिए! देश-कथा से अभिप्राय विभिन्न देशों के खान-पान की, रूप-सौन्दर्य की एवं वेशभूषा आदि की प्रशंसा 'देशकथा' है जिसका त्याग साधु के लिए अनिवार्य है। '**राजकथा**' से अभिप्राय है राजाओं की समृद्धियों, भोग-विलास-सामग्री, रानियों के सौन्दर्य और युद्ध आदि की चर्चा एवं प्रशंसा आदि करना। इसकी गणना भी विकथाओं में होती है। विकथा साधु के लिए त्याज्य है, किन्तु प्रमाद वश 'विकथा' की चर्चा हो जाने पर उसके लिये वह प्रतिक्रमण करता है।

ध्यान–चित्तवृत्तियों को किसी एक ध्येय पर स्थिर कर देना ही ध्यान है। ध्यान को आन्तरिक तप माना गया है, किन्तु शास्त्रकारों ने ध्यान के चार भेद करके उनमें से प्रथम दो आर्त्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान को वर्ज्य एवं अनाचरणीय माना है तथा धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान को उपादेय और आचरणीय माना है। साधु के लिए आर्त्त और रौद्र दो ध्यान वर्ज्य हैं।

आर्त्तध्यान–से अभिप्राय है आर्ति अर्थात् दुःख-दर्द के निमित्त से किया जाने वाला ध्यान। दुःख-दर्द की निवृत्ति के लिये शुभ ध्यान तो किए जा सकते हैं, किन्तु आठों प्रहर दुख-पीड़ा और अभाव का ही चिन्तन आर्त्तध्यान है जो निषिद्ध है।

रौद्र ध्यान–रुद्र का अर्थ है हिंसक व्यक्ति। हिंसक व्यक्ति की चिन्तन-धारा सदैव हिंसा, युद्ध, मारपीट, कलह, द्वेष आदि पर ही केन्द्रित रहती है। उसकी इसी चिन्तन-धारा को रौद्र ध्यान कहा जाता है। कभी-कभी मनुष्य कामान्ध होकर भी बड़े-बड़े युद्ध छेड़ देता है, अतः वासनाओं के चिन्तन को भी रौद्र ध्यान कहा जा सकता है।

साधु के लिये ये दोनों ध्यान वर्जित हैं। किसी समय असावधानी की दशा में उससे हो जाएं तो उसके लिए प्रतिक्रमण किया जाता है।

धर्म-ध्यान—धर्म-भावना से—प्राणियों पर दया, स्वधर्मीवात्सल्य, करुणा, अनुकम्पा आदि से प्रेरित चिन्तन तथा आगमों आदि में पठित एवं गुरुजनों से सुने हुए धार्मिक विषयों का मनन तथा आत्म-चिन्तन आदि को धर्मध्यान कहा जाता है। धर्म-ध्यान साधु के लिये विहित है, धर्म-ध्यान न करने के कारण होने वाले दोषों से मुक्ति के लिये प्रतिक्रमण किया जाता है।

शुक्ल-ध्यान—यह ध्यान की सर्वोत्तम दशा है, इसमें साधक ऐसा आत्म-चिन्तन करता है जिससे उसका अष्टकर्म रूप मल धुल जाता है। यह भी साधु के लिए विहित है और उसे धर्म-ध्यान के माध्यम से शुक्ल ध्यान की अवस्था में प्रवेश पाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। ऐसा प्रयत्न न करने पर साधु दोषी है, उस दोष की निवृत्ति के लिए उसे प्रतिक्रमण करना पड़ता है।

क्रिया-कामगुण-महाव्रत-समिति-सूत्र

पडिक्कमामि पंचहिं किरियाहिं—काइयाए, अहिगरणियाए, पाउसियाए, पारितावणियाए, पाणाइवायकिरियाए। पडिक्कमामि पंचहिं कामगुणेहिं—सद्देणं, रूवेणं, गंधेणं, रसेणं, फासेणं। पडिक्कमामि पंचहिं महव्वएहिं—सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं। पडिक्कमामि पंचहिं समिईहिं—ईरिया समिईए, भासा समिईए, एसणा समिईए, आयाण-भंडमत्त-निक्खेवणा-समिईए, उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिंघाण परिट्ठावणिया समिईए।

शब्दार्थ—**पडिक्कमामि**—मैं प्रतिक्रमण करता हूं, **पंचहिं**—पांचों, **किरियाहिं**—क्रियाओं से (जैसे कि), **अहिगरणियाए**—आधिकरणिकी क्रिया से, **पाउसियाए**—प्राद्वेषिकी क्रिया से, **पारितावणियाए**—पारितापनिकी क्रिया

से (और), **पाणाइवाय-किरियाए**–प्राणातिपात क्रिया से, **पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण करता हूं, **पंचहिं**–पांचों, **कामगुणेहिं**–काम गुणों से (जैसे कि), **सद्देणं**–शब्द से, **रूवेणं**–रूप से, **गंधेणं**–गंध से, **रसेणं**–रस से (और), **फासेणं**–स्पर्श से, **पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण करता हूं, **पंचहिं**–पांचों, **महव्वएहिं**–महाव्रतों से (जैसे कि), **सव्वाओ**–सभी, **पाणाइवायाओ वेरमणं**–प्राणातिपातों से निवृत्ति रूप महाव्रत से, **सव्वाओ**–सभी, **मुसावायाओ वेरमणं**–मृषावादों से निवृति रूप महाव्रत से, **सव्वाओ**–सभी, **अदिण्णा-दाणाओ-वेरमणं**–अदत्तादान से निवृत्ति रूप महाव्रत से, **सव्वाओ**–सभी, **मेहुणाओ वेरमणं**–मैथुन से निवृत्ति रूप महाव्रत से, **सव्वाओ**–सभी, **परिग्गहाओ वेरमणं**–परिग्रहों से निवृत्ति रूप महाव्रत से, **पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण करता हूं, **पंचहिं**–पांचों, **समिईहिं**–समितियों से (जैसे कि) **ईरिया समिईए**–ईर्या समिति से, **भासा समिईए**–भाषा समिति से, **एसणा समिईए**–एषणा समिति से, **आयाण भंडमत्त निक्खेवणा समिईए**–आदान-भाण्डमात्र निक्षेपणा-समिति से, **उच्चार-पासवण खेल-जल्ल-सिंघाण परिट्ठावणिया समिईए**–उच्चार, प्रस्रवण-श्लेष्म-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिका समिति से।

भावार्थ–क्रिया–वैसे तो मनुष्य द्वारा की गई प्रत्येक चेष्टा को 'क्रिया' कहा जाता है, किन्तु जैनागमों में कर्मबन्ध के कारणभूत ऐसे क्रिया-कलाप को क्रिया कहा गया है जो दुर्गति का कारण हो। यद्यपि जैनागम क्रिया को 25 भेदों में विभक्त करते हैं, परन्तु क्रिया के प्रमुख पांच भेद बताए गए हैं–

1. **कायिकी**–शारीरिक चेष्टाओं को कायिकी क्रिया कहा जाता है।
2. **आधिकरणिकी**–अधिकरण का अर्थ है अस्त्र-शस्त्र, उनके प्रयोग एवं निर्माण से जो पापमयी प्रवृत्ति होती है उसे आधिकरणिकी क्रिया कहा जाता है।
3. **प्राद्वेषिकी**–द्वेष एवं मात्सर्य से होने वाली पापमयी प्रवृत्ति को प्राद्वेषिकी क्रिया कहा जाता है।
4. **पारितापनिकी**–किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुंचाने वाली पापमयी प्रवृत्ति पारितापनिका क्रिया कहलाती है।

5. **प्राणातिपातिकी**–हिंसा से उत्पन्न होने वाली पापमयी क्रिया।

काम-गुण–काम का अर्थ है वासना एवं उपभोग पदार्थ तथा गुण का अर्थ है रस्सी। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श, ये पांच ऐसे इन्द्रिय-विषय हैं जो इन्द्रियों को वासना एवं पदार्थों की ओर इस प्रकार खींच लेते हैं जैसे रस्सी से बंधी हुई कोई भी वस्तु खिंच जाती है, इसीलिये इन्हें कामगुण कहा गया है। साधक प्रतिक्रमण करते समय भावना करता है कि मुझे इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिये, फिर भी यदि कामगुणों से आकृष्ट होकर मेरी इन्द्रियां भटक गई हों तो मैं प्रतिक्रमण करता हूं।

महाव्रत–प्राणातिपात-विरमण आदि पांच महाव्रतों का साधु सर्वतोभावेन पालन करता है। प्रस्तुत सूत्रांश में वह पांच महाव्रतों से नहीं, इन व्रतों में प्रमादवश लगे दोषों से प्रतिक्रमण करके आत्मा को दोष-मुक्त करता है।

समिति–इस शब्द का अर्थ है मूलव्रतों की रक्षा के लिये सम्यक् प्रवृत्ति। पांच समितियों का पालन साधु के लिये अनिवार्य है, यह उसका उत्तरगुण है, जिससे वह मूल गुणों की रक्षा करता है।

ईर्या-समिति–इस समिति का पालन करते हुए साधु-साध्वी चार हाथ आगे की भूमि को देखते हुए प्राणियों की रक्षा को ध्यान में रख कर चलते हैं। इससे अहिंसा-व्रत की रक्षा और इन्द्रिय-निग्रह दोनों कार्य सम्पन्न होते हैं।

भाषा-समिति–सत्य, व्यवहारानुकूल, हितकारी, प्रिय, मधुर एवं असंदिग्ध भाषा बोलना ही भाषा-समिति है। इस समिति से दूसरे महाव्रत की रक्षा होती है।

एषणा-समिति–इस समिति का पालन करने वाले साधु-साध्वी उद्गमन, उत्पादन आदि के 42 दोषों से बच कर आहार-पानी एवं वस्त्र आदि ग्रहण करते हैं। इससे साधु-साध्वी का अपरिग्रह व्रत सुरक्षित रहता है।

आदान-भण्ड मत्त-निक्षेपणा-समिति–इस समिति का पालन करने वाले साधु-साध्वी यत्न-पूर्वक मर्यादा का ध्यान रखते हुए वस्त्र, पात्र, पुस्तक, पट्टा, आसन, फूस, चौकी आदि को उठाते एवं रखते हैं। इससे प्रथम और चतुर्थ-व्रत की रक्षा होती है।

परिष्ठापनिका समिति–इस समिति का पालन करने वाले साधु-साध्वी सर्वथा एकान्त स्थान में निर्दोष भूमि देखकर यतनापूर्वक मल-मूत्र, केश-नाखून आदि शरीर के सभी मलों का '**वोसिरामि**' कहकर त्याग करते हैं।[1]

जीव निकाय एवं लेश्या–सूत्र

पडिक्कमामि छहिं जीव-निकाएहिं–पुढविकाएणं, आउकाएणं, तेउकाएणं, वाउ-काएणं, वणस्सइ-काएणं, तसकाएणं।

पडिक्कमामि छहिं लेसाहिं–कण्ह-लेसाए, नील-लेसाए, काउ-लेसाए, तेउ-लेसाए, पम्ह-लेसाए, सुक्क-लेसाए।

शब्दार्थ–पडिक्कमामि–मैं प्रतिक्रमण करता हूं, **छहिं जीव-निकाएहिं**–छहों जीव निकायों से (जैसे कि), **पुढविकाएणं**–पृथ्वीकाय जीवों से, **आउकाएणं**–अप्काय जीवों से, **तेउकाएणं**–तेजस्काय जीवों से, **वाउकाएणं**–वायुकाय जीवों से, **वणस्सइकाएणं**–वनस्पतिकाय जीवों से, **तसकाएणं**–त्रस काय जीवों से, **पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण करता हूं, **छहिं लेसाहिं**–छहों लेश्याओं से (जैसे कि), **किण्ह लेसाए**–कृष्ण लेश्या से, **नील लेसाए**–नील लेश्या से, **काउ लेसाए**–कापोत लेश्या से, **तेउ लेसाए**–तेजो लेश्या से, **पम्ह लेसाए**–पद्म लेश्या से, **सुक्क लेसाए**–शुक्ल लेश्या से।

---

1. इस समिति के पाठ में 'जल्ल' शब्द आया है जिसका अर्थ है–शरीर का मल। आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने इस सूत्र का अर्थ करते हुए मूलपाठ में 'जल्ल' शब्द के साथ 'मल्ल' शब्द का भी प्रयोग किया है। औपपातिक सूत्र 10 में भगवान महावीर की शरीर-सम्पदा का वर्णन करते हुए लिखा है–"जल्ल-मल्ल-कलंक-सेय-रज-दोस-वज्जिय-सरीर-निरुवलेवे।" और इसकी टीका करते हुए श्री अभयदेव सूरि लिखते हैं–"याति च लगति चेति मल्लः–स्वल्पयत्नापनेयः, स चासौ मल्लश्चेति–"जल्ल मल्लः"–इससे स्पष्ट है कि यह "मल्ल" शब्द प्राकृत भाषा का है और इसका प्रयोग मल अर्थ में ही हुआ है।
   'जल्ल' शब्द को विशेषण मानकर 'शीघ्र दूर होने वाला मल' अर्थ अभयदेव सूरि जी को भी मान्य है। विशेषण के साथ विशेष्य की सम्भावना या अध्याहार विद्वज्जन इष्ट है, अतः आचार्य श्री ने मूल में 'मल्ल' शब्द न होते हुए भी टीका में उसका अध्याहार कर लिया है।

भावार्थ–'जीव' शब्द प्राणधारी के लिये प्रयुक्त होता है। 'निकाय' शब्द का अर्थ है समूह। संसार के सभी जीव समूहों का अन्तर्भाव छह निकायों में हो जाता है।

(क) जिन जीवों का शरीर पृथ्वी रूप है, उन्हें 'पृथ्वीकाय' कहा जाता है।

(ख) जिन जीवों का शरीर जल रूप, है उन्हें 'अप्काय' कहा जाता है।

(ग) जिन जीवों का शरीर तेजस् रूप है उन्हें 'तेजस्काय' कहा जाता है।

(घ) जिन जीवों का शरीर वायु रूप है उन्हें 'वायुकाय' कहा जाता है।

(ङ) जिन जीवों का शरीर वनस्पति रूप है उन्हें 'वनस्पतिकाय' कहा जाता है। इन्हें ही स्थावर जीव भी कहते हैं।

(च) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय सभी जीव 'त्रसकाय' कहलाते हैं।

साधु-साध्वी प्रतिक्रमण-बेला में यह भावना भाते हैं कि यदि अज्ञान या प्रमाद-वश छह जीव-निकायों में से किसी भी जीव को मुझ से कष्ट पहुंचा हो, या किसी की हिंसा हो गई हो, तो मैं उस पाप से विमुक्त होने के लिये प्रतिक्रमण करता हूं–अपनी आत्मा को दोष मुक्त करता हूं।

लेश्या–जिस अदृश्य शक्ति के द्वारा आत्मा के साथ शुभाशुभ कर्मों का बन्धन होता है और जिसके अनुसार मानवीय स्वभाव की रचना होती है, उस अदृश्य शक्ति को लेश्या कहा जाता है। लेश्या की सत्ता मन, वचन और काय के योगों पर निर्भर होती है, अतः जहां योग है वहीं लेश्या है। चौदहवें गुणस्थान में केवली भगवान् 'अयोगी' हो जाते हैं, अतः उनकी आत्मा के साथ लेश्याएं भी नहीं रह जातीं।

कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या ये तीन लेश्याएं उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हुए भी अप्रशस्त कहलाती हैं और कषाययोग से हिंसा आदि अशुभ कर्मों में प्रवृत्ति करवाती हैं।

तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या ये भी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ और अपेक्षाकृत शुभ कर्मों में अधिकाधिक प्रवृत्ति की विधायक हैं।

साधक प्रतिक्रमण-वेला में यह भावना करता है कि यदि मैंने अप्रशस्त लेश्याओं के कारण कोई अशुभ कार्य किया हो और प्रशस्त लेश्याओं में प्रवृत्त होने की साधना न की हो तो मैं इस पाप की निवृत्ति के लिये प्रतिक्रमण करता हूं।

छहों लेश्याओं की प्रकृति एवं उनकी श्रेष्ठता को समझने के लिये एक उदाहरण देना उपयुक्त होगा। एक शत्रु राजा के प्रति छहों लेश्या प्रधान व्यक्ति क्रमशः इस प्रकार सोच सकते हैं-

(क) **कृष्ण लेश्या**-शत्रु के सारे देश को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाए।

(ख) **नील लेश्या**-देश नहीं, केवल शत्रु के नगर को ध्वस्त कर दिया जाए।

(ग) **कापोत लेश्या**-नगर को नहीं, केवल शुत्र के महलों को ध्वस्त किया जाये।

(घ) **तेजो लेश्या**-सब महलों को नहीं, केवल उस महल को जहां शत्रु रहता है।

(ङ) **पद्म लेश्या**-सारे महल को नहीं, केवल उस कक्ष को तोड़ा जाये, जहां शत्रु छिपा बैठा है।

(च) **शुक्ल लेश्या**-जब शत्रु डर कर छिप ही गया है तो उसे मारना ही नहीं चाहिये।

प्रस्तुत उदाहरण लेश्याओं की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता का स्पष्ट बोध करा रहा है।

अनेकविध-प्रतिक्रमण सूत्र

पडिक्कमामि सत्तहिं भयट्ठाणेहिं, अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं, नवहिं बंभचेरगुत्तीहिं, दसविहे समणधम्मे, एक्कारसहिं उवासगपडिमाहिं, बारसहिं भिक्खुपडिमाहिं, तेरसहिं किरियाठाणेहिं, चउद्दसहिं भूयगामेहिं, पण्णरसहिं परमाहम्मिएहिं, सोलसहिं गाहासोलसएहिं, सत्तरसविहे असंजमेहिं, अट्ठारसविहे अबंभेहिं, एगूणबीसाए णायज्झयणेहिं, बीसाए असमाहि ठाणेहिं, एगबीसाए सबलेहिं, बावीसाए परीसहेहिं, तेवीसाए सूयगडज्झयणेहिं, चउबीसाए

देवेहिं, पणबीसाए भावणाहिं, छब्बीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देसण कालेहिं, सत्तावीसाए अणगार गुणेहिं, अट्ठावीसाए आयारप्प- कप्पेहिं, एगूणतीसाए पावसुयप्पसंगेहिं तीसाए महामोहणी- यट्ठाणेहिं, एगतीसाए सिद्धाइगुणेहिं, बत्तीसाए जोगसंगहेहिं, तेत्तीसाए आसायणाहिं।

शब्दार्थ–पडिक्कमामि–मैं प्रतिक्रमण करता हूं, **सत्तहिं भयट्ठाणेहिं**–सात भय के स्थानों से, **अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं**–आठों मद-स्थानों से, **नवहिं बंभचेर-गुत्तीहिं**–नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियों से, **पडिक्कमामि**–प्रतिक्रमण करता हूं, **दसविहे समणधम्मे**–दस प्रकार के श्रमण-धर्म से, **एक्कारसहिं उवासग-पडिमाहिं**–ग्यारह उपासक की प्रतिमाओं से, **बारसहिं भिक्खु पडिमाहिं**–बारह भिक्षु-प्रतिमाओं से, **तेरसहिं किरियाठाणेहिं**–तेरह क्रिया-स्थानों से, **चउद्दसहिं भूयगामेहिं**–चौदह भूत-ग्रामों से अर्थात् जीव समूहों से, **पण्णरसहिं परमाहम्मिएहिं**–पन्द्रह परमाधर्मियों से, **सोलसहिं गाहासोलसएहिं**–सोलह सूत्रकृतांग के 16 अध्ययनों (के अनुरूप आचरण न करने) से, **सत्तरसविहे असंजमे**–सत्रह प्रकार के असंयमों से, **अट्ठारसविहे अबंभेहिं**–अठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य से (ब्रह्मचर्य-भंग के दोषों से), **एगूणबीसाए णायज्झयणेहिं**–ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के उन्नीस अध्ययनों (का अध्ययन न करने) से, **बीसाए असमाहि ठाणेहिं**–बीस असमाधि के स्थानों से, **एगबीसाए सबलेहिं**–इक्कीस प्रकार के शबल दोषों से, **बावीसाए परीसहेहिं**–बाईस प्रकार के परीषहों से, **तेवीसाए सूयगडज्झयणेहिं**–तेईस सूत्रकृतांग के अध्ययनों का स्वाध्याय न करने से, **चउबीसाए देवेहिं**–चौबीस तीर्थंकर देवों के प्रति श्रद्धा, सम्मान आदि न रखने से, **पणबीसाए भावणाहिं**–पच्चीस (महाव्रतों की) भावनाओं (का पालन न करने) से, **छब्बीसाए दसाकप्प-ववहाराणं**–छब्बीस–दशाश्रुत-स्कन्ध के दस, बृहत्कल्पसूत्र के छह और व्यवहार सूत्र के दस (इस प्रकार तीन सूत्र-ग्रंथों के), **उद्देसण कालेहिं**–उद्देशन कालों के अनुसार आचरण न करने से, **सत्ताबीसाए अणगार गुणेहिं**–सत्ताईस अणगार-गुणों (को धारण

न करने) से, **अट्ठावीसाए आयारप्पकप्पेहिं**–अट्ठाईस आचार-प्रकल्पों (के अध्ययनों में वर्णित आचार का पालन न करने) से, **एगूणतीसाए पावसुयप्पसंगेहिं**–उनतीस पाप-श्रुतों के प्रसंगों से, **तीसाए महामोहणी-यट्ठाणेहिं**–तीस महामोहनीय कर्म के स्थानों से, **एगतीसाए सिद्धाइ-गुणेहिं**–इकत्तीस सिद्धों में पाए जाने वाले गुणों की प्ररूपणा न करने से, **बत्तीसाए जोगसंगहेहिं**–बत्तीस योग संग्रहों (का सम्यक् आचरण न करने) से, **तेत्तीसाए आसायणाहिं**–तेंतीस आशातनाओं द्वारा उत्पन्न दोषों से निवृत्त होता हूं।

सरलार्थ–मैं सात भयों से लेकर तेंतीस आशातनाओं के सम्बन्ध में जो भी दोष लगे हों उनसे निवृत्ति के लिये प्रतिक्रमण करता हूं। सात भय-स्थानों (भय के कारणों) से, आठ मद-स्थानों (मद के कारणों) से, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों का पालन न करने से, दशविध श्रमण-धर्म का पालन न करने से, ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं की शास्त्र-मर्यादा-विरुद्ध- प्ररूपणा से, बारह भिक्षु-प्रतिमाओं का विधिवत् पालन न करने से, तेरह क्रिया-स्थानों (पाप-कारणों) से, चौदह जीव-समूहों की विराधना से, पन्द्रह परमाधार्मिकों जैसा आचरण करने से, सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययनों में वर्णित साध्वाचार का पालन न करने से, अठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य का आचरण करने से, ज्ञाताधर्म-कथांग सूत्र के उन्नीस अध्ययनों में वर्णित श्रमणाचार का पालन न करने से, बीस असमाधि कारणों से, इक्कीस शबल-दोषों से, बाईस परीषहों को समता-भाव-पूर्वक सहन न करने से, सूत्रकृताङ्ग के तेईस अध्ययनों में वर्णित संयमी जीवन-सम्बन्धी आचार का पालन न करने से, चौबीस देवों की आशातना-जन्य दोषों से, महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं के अनुकूल आचरण के अभाव से, सूत्रत्रयी (दशाश्रुत-स्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्र) में वर्णित छब्बीस उद्देशन-कालों का विधिवत् पालन न करने से, साधु के लिये विहित सत्ताईस गुणों को धारण न करने से, सूत्रद्वयी (आचारांग तथा निशीथ सूत्र) के अट्ठाईस अध्ययनों के अनुरूप साध्वाचार का पालन न करने से, उनतीस पाप-श्रुत के प्रसंगों से, मोहनीय कर्म के तीस स्थानों से, सिद्धों के इकत्तीस गुणों के प्रति श्रद्धा न रखने से, बत्तीस योग-संग्रहों का पालन न करने से और तेंतीस आशातनाओं से निवृत्त होता हूं।

भावार्थ–सात भय-स्थान–1. इहलोक-भय, 2. परलोक-भय, 3. आदान-भय, 4. अकस्मात्-भय, 5. जीवन-भय, 6. मरण-भय, 7. अश्लोक-भय–ये सातों भय-स्थान साधु के लिये त्याज्य हैं।

आठ मद-स्थान–1. जाति-मद, 2. कुल-मद, 3. बल-मद, 4. रूप-मद, 5. तप-मद, 6. श्रुत-मद, 7. लाभ-मद, 8. ऐश्वर्य-मद – ये आठ मद साधु-साध्वी को कभी नहीं करने चाहियें।

नौ ब्रह्मचर्य-गुप्तियां–1. विविक्त-वसति-सेवन, 2. स्त्री-कथा-परिहार, 3. निषद्यानुपवेशन, 4. स्त्री[1]-अंगोपांग-अदर्शन, 5. कुड्यान्तर-शब्द-श्रवणादि-वर्जन, 6. पूर्व-भोग-अस्मरण, 7. प्रणीत-भोजन-त्याग, 8. अति-मात्रा-भोजन-त्याग, 9. विभूषा-परिवर्जन–ये नौ गुप्तियां आचरणीय हैं। इन में से किसी भी गुप्ति के भंग होने पर प्रतिक्रमण द्वारा आत्मशुद्धि की जाती है।

दशविध श्रमण-धर्म–स्थानांग-सूत्र में दशविध धर्म का उल्लेख इस प्रकार किया गया है–1. क्षान्ति, 2. मुक्ति, 3. आर्जव, 4. मार्दव, 5. लाघव (आकिंचन्य), 6. सत्य, 7. संयम, 8. तप, 9. त्याग और 10. ब्रह्मचर्यवास।

ग्यारह उपासक-प्रतिमाएं–1. दर्शन-प्रतिमा, 2. व्रत-प्रतिमा, 3. सामायिक-प्रतिमा, 4. पौषध-प्रतिमा, 5. नियम-प्रतिमा, 6. ब्रह्मचर्य-प्रतिमा, 7. सचित्त-त्याग- प्रतिमा, 8. आरम्भ-त्याग-प्रतिमा, 9. प्रेष्य-त्याग-प्रतिमा, 10. उद्दिष्ट-भक्त-त्याग-प्रतिमा, 11. श्रमणभूत-प्रतिमा। साधु-साध्वी इन प्रतिमाओं की यदि कभी विपरीत प्ररूपणा कर दें तो उन्हें दोष लगता है। प्रतिक्रमण में इन दोषों से मुक्त होने की भावना की जाती है।

बारह भिक्षु-प्रतिमायें–इनकी आराधना भिक्षा द्वारा प्राप्त दत्तियों के आधार पर होती है। पहली सात प्रतिमायें एक-एक मास के क्रम से सात मासों में पूर्ण हो जाती हैं। आठवीं, नौवीं और दसवीं प्रतिमायें एक-एक सप्ताह के क्रम से तीन सप्ताहों में पूर्ण हो जाती है। 11वीं प्रतिमा एक दिन-रात की होती है तथा 12वीं प्रतिमा में एक रात्रि की साधना विहित है। इन

---

1. साध्वी समुदाय के लिये 'स्त्री' शब्द के स्थान पर 'पुरुष' शब्द समझना चाहिये।

प्रतिमाओं का यथाशक्ति पालन न करना अथवा शास्त्र-मान्यता के विपरीत इनकी प्ररूपणा करना अतिचार है, जिससे मुक्त होने की भावना इस सूत्र में की गई है।

तेरह क्रिया-स्थान—कर्मबन्ध में कारणभूत क्रिया के मुख्यतः दो भेद हैं—साम्परायिकी और ऐर्यापथिकी। आत्मा को सम्परायबद्ध अर्थात् कषाय-बद्ध करने वाली क्रिया को साम्परायिकी क्रिया कहते हैं और मार्ग में यतना-पूर्वक चलते हुए जो कायिक-योग अर्थात् शारीरिक चेष्टा होती है उसे ऐर्यापथिकी क्रिया कहा जाता है। साम्परायिकी क्रिया के 12 भेद हैं—

1. **अर्थ-दण्ड-क्रिया**—अपने स्वार्थ के लिये जीवों की हिंसा करना और उसका अनुमोदन करना।
2. **अनर्थ-दण्ड-क्रिया**—जीवों को निष्प्रयोजन कष्ट देना।
3. **हिंसा-दण्ड-क्रिया**—(अपराधी समझकर) किसी भी प्राणी की हिंसा करना।
4. **अकस्माद्-दण्ड-क्रिया**—बिना सोचे-विचारे सहसा हो जाने वाली हिंसा।
5. **दृष्टि-विपर्यास-क्रिया**—दृष्टि-भ्रम से होने वाला पाप-कर्म।
6. **मृषा-क्रिया**—झूठ बोलना।
7. **अदत्तादान-क्रिया**—चोरी करना।
8. **अध्यात्म-क्रिया**—मानसिक दुर्भावनाएं एवं अशुभ कामनायें।
9. **मान-क्रिया**—अहंकार करना।
10. **मित्र-क्रिया**—मित्र-वर्ग को सताना।
11. **माया-क्रिया**—कपट-व्यवहार करना।
12. **लोभ-क्रिया**—अनुचित एवं अनावश्यक लोभ करना।

तेरहवीं ऐर्यापथिकी क्रिया मानी गई है, जो सयोगी वीतराग को लगती है। इस प्रकार इन तेरह प्रकार की क्रियाओं से उत्पन्न अतिचारों से प्रस्तुत प्रतिक्रमण में मुक्ति की भावना की जाती है।

चौदह भूतग्राम—1. सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव, 2. बादर एकेन्द्रिय जीव, 3. द्वीन्द्रिय जीव, 4. त्रीन्द्रिय जीव, 5. चतुरिन्द्रिय जीव, 6. असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव और 7. संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव—इस प्रकार जीवों के सात भेद हैं। पुनः इन सातों के पर्याप्त और अपर्याप्त दो-दो भेद होते हैं—इस प्रकार जीव-समूह 14 भागों में विभक्त हो जाता है। इन जीवों की विराधना आदि से उत्पन्न अतिचारों से मुक्त होने के लिये प्रतिक्रमण किया जाता है—

('पन्द्रह परमाधार्मिक से लेकर बत्तीस योग-संग्रहों आदि की विस्तृत व्याख्या के लिये देखिये परिशिष्ट।')

तेंतीस आशातना-सूत्र

अरिहंताणं आसायणाए, सिद्धाणं आसायणाए, आयरियाणं आसायणाए, उवज्झायाणं आसायणाए, साहूणं आसायणाए, साहुणीणं आसायणाए, सावयाणं आसायणाए, सावियाणं आसा-यणाए, देवाणं आसायणाए, देवीणं आसायणाए, इहलोगस्स आसायणाए, परलोगस्स आसायणाए, केवलि-पण्णत्तस्स धम्मस्स आसायणाए, सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स आसायणाए, सव्व पाण-भूय-जीव-सत्ताणं आसायणाए, कालस्स आसायणाए, सुयस्स आसायणाए, सुयदेवयाए आसायणाए, वायणायरियस्स आसायणाए, जं वाइद्धं, वच्चा मेलियं, हीणक्खरं, अच्चक्खरं, पयहीणं, विणयहीणं, जोगहीणं, घोसहीणं, सुट्ठुदिण्णं, दुट्ठुपडिच्छियं, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाइए सज्झायं, सज्झाइये न सज्झायं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

शब्दार्थ—**अरिहंताणं आसायणाए**—अरिहंतों की आशातना होने से, **सिद्धाणं आसायणाए**—सिद्धों की आशातना होने से, **आयरियाणं आसायणाए**—आचार्यों की आशातना होने से, **उवज्झायाणं आसायणाए**—उपाध्यायों की आशातना होने से, **साहूणं आसायणाए**—साधुओं की आशातना होने से, **साहुणीणं आसायणाए**—साध्वियों की आशातना होने से, **सावयाणं**

आसायणाए–श्रावकों की आशातना होने से, **सावियाणं आसायणाए**–श्राविकाओं की आशातना होने से, **देवाणं आसायणाए**–देवों की आशातना होने से, **देवीणं आसायणाए**–देवियों की आशातना होने से, **इहलोगस्स आसायणाए**–इस लोक की आशातना होने से, **परलोगस्स आसायणाए**–परलोक की आशातना होने से, **केवलिपण्णत्तस्स धम्मस्स आसायणाए**–केवली–प्ररूपित धर्म की आशातना होने से, **सदेव-मणुया-सुरस्स-लोगस्स आसायणाए**–देवों के सहित मनुष्यों और असुरों सहित लोक की आशातना होने से, **सव्व पाण-भूय-जीव-सत्ताणं आसायणाए**–सभी प्राण, भूत, जीव, और सत्वों की आशातना से, **कालस्स आसायणाए**–काल संबंधी आशातना से, **सुयस्स आसायणाए**–श्रुत की आशातना से, **सुयदेवयाए आसायणाए**–श्रुत देवता की आशातना से, **वायणायरियस्स आसायणाए**–वाचनाचार्य की आशातना से, **जं**–जो (आगम स्वाध्याय के समय), **वाइद्धं**–आगे–पीछे पढ़ा हो, **वच्चामेलियं**–अन्य सूत्र का पाठ अन्य सूत्र में मिलाकर पढ़ा हो, **हीणक्खरं**–पूरे अक्षर न पढ़े हों, **अच्चक्खरं**–अक्षर बढ़ाकर पढ़े हों, **पयहीणं**–पद छोड़कर पढ़े हों, **विणयहीणं**–विनयहीन अध्ययन किया हो, **जोगहीणं**–शुद्ध योगों से न पढ़ा हो, **घोसहीणं**–स्वर–भ्रष्ट होकर पढ़ा हो, **सुट्ठुदिण्णं**–अपात्र को अच्छा ज्ञान दिया हो, अथवा शिष्य की योग्यता से अधिक पाठ पढ़ाया हो व सुयोग्य को न पढ़ाया हो, **दुट्ठुपडिच्छियं**–बुरे भाव से ज्ञान ग्रहण किया हो, **अकाले कओ सज्झाओ**–अकाल में स्वाध्याय किया हो, **काले न कओ सज्झाओ**–काल में स्वाध्याय न किया हो, **असज्झाइए सज्झायं**–अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय किया हो, **सज्झाइए न सज्झायं**–स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय न किया हो, **तस्स मिच्छा मि दुक्कडं**–उपर्युक्त सभी दोषों का दुष्कृत पाप मेरे लिए मिथ्या हो।

सरलार्थ–1. अरिहन्तों की आशातना से, 2. सिद्धों की आशातना से, 3. आचार्यों की आशातना से, 4. उपाध्यायों की आशातना से, 5. साधुओं की आशातना से, 6. साध्वियों की आशातना से, 7. श्रावकों की आशातना से, 8. श्राविकाओं की आशातना से, 9. देवों की आशातना से, 10. देवियों की आशातना से, 11. इस लोक की आशातना से, 12. परलोक की आशातना

से, 13. सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्म की आशातना से, 14. देव, मनुष्य एवं असुरों सहित लोक की आशातना से, 15. समस्त प्राणी, भूत, जीव एवं सत्त्वों की आशातना से, 16. काल की आशातना से, 17. श्रुत की आशातना से, 18. श्रुतदेवता की आशातना से, 19. वाचनाचार्य की आशातना से, 20. आगम-पाठ को इधर-उधर बोलने से, 21. एक पाठ को दूसरे पाठ में मिला कर पढ़ने से, 22. हीनाक्षर करके पाठ पढ़ने से, 23. अक्षर बढ़ा कर पाठ पढ़ने से, 24. पदहीन पाठ पढ़ने से, 25. विनयहीन होने से, 26. उपयोग-हीन होकर पढ़ने से, 27. उदात्तादि स्वरों का ध्यान न रख कर पढ़ने से, 28. योग्यता से अधिक पाठ पढ़ाने से, 29. वाचनाचार्य से विधिवत् पाठ ग्रहण न करने से, 30. अकाल में स्वाध्याय करने से, 31. विहित-काल में स्वाध्याय न करने से, 32. अस्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय किया हो और, 33. स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय न किया हो-(इस प्रकार उक्त सभी दोषों के लिये मैं **'मिच्छा मि दुक्कडं'** के शब्दों में दुष्कृतों के मिथ्या होने की भावना करते हुए पाप मुक्त होता हूं।

(तेंतीस आशातनाओं के लिये देखिये परिशिष्ट।)

जिन-धर्म-स्तुति

णमो चउवीसाए तित्थयराणं।

उसभाइ महावीर पज्जवसाणाणं।

इणमेव णिग्गंथं पावयणं-सच्चं, अणुत्तरं, केवलियं, पडिपुण्णं, णेयाउयं, संसुद्धं, सल्लगत्तणं, सिद्धिमग्गं, मुत्तिमग्गं, णिज्जा-णमग्गं, णिव्वाणमग्गं, अवितहमविसंधि, सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं।

शब्दार्थ-णमो-मैं नमस्कार करता हूं, **चउवीसाए तित्थयराणं**-चौबीस तीर्थंकरों को, **उसभाइ**-श्री ऋषभदेव जी से लेकर, **महावीर पज्जव-साणाणं**-महावीर पर्यंतों को, **इणमेव**-यही, **णिग्गंथं पावयणं**-निर्ग्रन्थों द्वारा प्ररूपित प्रवचन, **सच्चं**-सत्य है, **अणुत्तरं**-सर्वश्रेष्ठ है, **केवलियं**-अद्वितीय है-अनुपम है, **पडिपुण्णं**-सर्वथा पूर्ण है, **णेयाउयं**-न्याय-सम्मत

है, **संसुद्धं**–सर्वथा शुद्ध है, **सल्लगत्तणं**–माया आदि शल्यों को गलाने वाला है, **सिद्धिमग्गं**–सिद्धि-प्राप्ति का मार्ग है, **मुत्तिमग्गं**–मोक्ष अर्थात् निर्लोभता का मार्ग है, **णिज्जाणमग्गं**–संसार से निकलने का मार्ग है, **णिव्वाणमग्गं**–निर्वाण अर्थात् परम शान्ति का मार्ग है, **अवितहमविसंधि**–यथार्थ एवं सनातन है, **सव्वदुक्खप्पहीण मग्गं**–सभी दुखों को नष्ट करने वाला मार्ग है।

सरलार्थ–आदि तीर्थंकर भगवान् श्री ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों को मैं नमस्कार करता हूं।

निर्ग्रन्थों द्वारा प्ररूपित यह धर्म ही सत्य है, सर्वश्रेष्ठ है, अद्वितीय–अनुपम है, सर्वथा पूर्ण है, न्याय-सम्मत है, सर्वथा शुद्ध है, माया आदि शल्यों को गलाने वाला है, सिद्धि-प्राप्ति का मार्ग है, मोक्ष अर्थात् निर्लोभता का मार्ग है, संसार से निकलने का मार्ग है, निर्वाण अर्थात् शान्ति का मार्ग है, यही यथार्थ एवं सनातन है और सभी दु:खों को नष्ट करने वाला मार्ग है।

भावार्थ–प्रस्तुत सूत्र में चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार करते हुए उनके द्वारा प्ररूपित प्रवचन की श्रेष्ठता के प्रति अटल विश्वास व्यक्त किया गया है। तीर्थंकर प्ररूपित मार्ग पर दृढ़ रहने के लिये साधक अनन्त शक्ति की अपेक्षा रखता है, अत: इस सूत्र में केवल 'तीर्थंकर' न कह कर '**उसभादि-महावीर-पज्जवसाणाणं**' कह कर शक्ति प्रतीकों का स्मरण किया गया है। 'ऋषभ' शब्द शक्तिमत्ता का द्योतक है, अत: उसका प्रथम स्मरण करके अन्त में 'महावीर' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'महावीर' शब्द भी शक्ति के अजस्त्र स्त्रोत की ओर संकेत करने वाला है। यदि 'अद्रौस्थैर्यम्' की उक्ति के अनुसार पर्वत में चित्तवृत्तियों को एकाग्र करने से पर्वत जैसी स्थिरता की उपलब्धि साधक के लिये सुलभ हो जाती है तो क्या कारण है कि ऋषभ एवं महावीर जैसे शक्ति-स्त्रोतों के साथ की गई आध्यात्मिक एकता साधक को आध्यात्मिक बल प्रदान न करे?

साधक तीर्थंकरों के प्रवचन के लिए '**निग्गंथं पावयणं**' शब्दों का प्रयोग करता है, क्योंकि उसका जीवन-लक्ष्य है– निर्ग्रन्थत्व–अर्थात् सांसारिक–बाह्य पदार्थों और काम-क्रोधादि आन्तरिक ग्रन्थियों से मुक्ति, अत: वह इस निर्ग्रन्थत्व रूप लक्ष्य की प्राप्ति के लिये निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर श्रद्धावान

रहने की भावना करता है और अपना यह विश्वास व्यक्त करता है कि यही प्रवचन सत्य है, सर्वश्रेष्ठ है और ग्रन्थियों से बन्धे रहने के कारण जो मुझे दु:ख प्राप्त हो रहे हैं उनसे मुक्त होने का यही साधन है। 'विश्वास: फलदायक:'–विश्वास ही फल देता है अत: साधक दृढ़ विश्वासी होकर निर्ग्रन्थ-प्रवचन की आराधना करता है और निर्ग्रन्थ-भगवन्तों को नमस्कार करता है।

महामहिम–जिनधर्म सूत्र

इत्थं ठिया जीवा - सिज्झंति, बुज्झंति मुच्चंति, परिणिव्वायंति, जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

शब्दार्थ–इत्थं ठिया–इस मार्ग पर स्थित, **जीवा**–जीव, **सिज्झंति**–सिद्ध हो जाते हैं, **बुज्झंति**–बुद्ध हो जाते हैं, **मुच्चंति**–मुक्त हो जाते हैं, **परिणिव्वा-यंति**–परिनिर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं, **जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति**–यावत् समस्त दुखों का अंत कर देते हैं।

सरलार्थ–(केवली-प्ररूपित) इस मार्ग पर स्थित जीव सिद्ध हो जाते हैं, बुद्ध हो जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं और सभी दु:खों का अन्त कर देते हैं।

भावार्थ–प्रस्तुत सूत्र में कार्य-कारण भाव से शब्दों का प्रयोग किया गया है, पूर्व-पूर्व शब्द कार्य है और उत्तर-उत्तर शब्द कारण है। जैसे कि इस मार्ग पर स्थित जीव सिद्ध हो जाता है, क्योंकि वह बुद्धत्व प्राप्त कर लेता है, वह बुद्ध हो जाता है, क्योंकि वह कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाता है, वह कर्म-मुक्त हो जाता है, क्योंकि उसे परिनिर्वाण प्राप्ति के मार्ग का पूर्ण ज्ञान हो जाता है, वह परिनिर्वृत्त हो जाता है, क्योंकि साधना-मार्ग पर आते ही वह अपने समस्त दु:खों का अन्त कर देता है। साथ ही सिद्ध अवस्था में भी आत्मा के जो स्वाभाविक गुण उसके साथ रहते हैं। यहां उनका संकेत किया गया है। बुद्धत्व आदि आत्मा के शाश्वत गुण हैं। उन गुणों की पूर्ण अभिव्यक्ति होते ही वह अपने स्वरूप में सदा के लिए अवस्थित हो जाता है।

जिन–धर्म–विशेष–आदर–सूत्र

तं धम्मं सद्दहामि, पत्तियामि, रोएमि, फासेमि, पालेमि, अणुपालेमि।

तं धम्मं सद्दहंतो, पत्तियंतो, रोयंतो, फासंतो, पालंतो, अणुपालंतो। तस्स धम्मस्स केवलि पण्णत्तस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए विरओमि विराहणाए।

शब्दार्थ–तं धम्मं–उस (केवली-प्ररूपित) धर्म के प्रति, **सद्दहामि**–मैं श्रद्धा करता हूं, **पत्तियामि**–प्रतीति अर्थात् विश्वास करता हूं, **रोएमि**–रुचि करता हूं, **फासेमि**–स्पर्श करता हूं (अर्थात् आचरण करता हूं), **पालेमि**–पालना करता हूं, **अणुपालेमि**–सदैव पालन करते रहने की भावना करता हूं, **तं धम्मं**–उस धर्म के प्रति, **सद्दहंतो**–श्रद्धा करते हुए, **पत्तियंतो**–विश्वास करते हुए (उसका आचरण करते हुए), **रोयंतो**–रुचि करते हुए, **फासंतो**–स्पर्श करते हुए (उसका आचरण करते हुए), **पालंतो**–पालन करते हुए, **अणुपालंतो**–सदैव पालन करते रहने की भावना रखते हुए, **तस्स धम्मस्स**–उस धर्म की, **केवलि पण्णत्तस्स**–केवली प्ररूपित धर्म की, **आराहणाए**–आराधना के लिए, **अब्भुट्ठिओमि**–उपस्थित होता हूं, **विरओमि**–निवृत्त होता हूं (दूर होता हूं), **विराहणाए**–विराधना से।

सरलार्थ–मैं उस धर्म के प्रति श्रद्धा करता हूं, उस पर प्रतीति अर्थात् दृढ़ विश्वास करता हूं, उसके प्रति रुचि करता हूं, उसका स्पर्श करता हूं, अर्थात् उसका आचरण कर उसे अपने जीवन में उतारता हूं, उसका पालन करता हूं, अर्थात् एक बार जीवन में उस धर्म को लाने के अनन्तर उसका कभी त्याग नहीं करूंगा, उसका सदैव पालन करता ही रहूंगा।

भावार्थ–प्रस्तुत सूत्र में भी सूत्रकार धर्म के प्रति साधक की दृढ़ आस्था को व्यक्त करते हैं और यहां पर भी भावना का कार्य-कारण भाव स्थापित किया गया है। यहां यदि अवरोह-क्रम से देखा जाए तो साधक कहता है–मैं धर्म का पालन ही नहीं, बल्कि उसका बार-बार

पालन करता हूं। पालन ही नहीं करता, क्योंकि पालन में तो दिखावा भी हो सकता है, अतः वह कहता है मैं उसे अपने जीवन में उतारता हूं (फासेमि), इसलिये कि मेरी धर्म में रुचि है, रुचि-हीनता से जीवन में लाया हुआ गुण कभी भी नष्ट हो सकता है, अतः धर्म में रुचि आवश्यक है। जिसमें रुचि होती है वही पदार्थ प्रीतिकर हो जाता है–प्रिय लगने लगता है, अतः साधक 'रोएमि' के स्वरों में अपनी रुचि और प्रीति व्यक्त करता है। रुचिकर की ग्राह्यता के मूल में उसका श्रेष्ठता का विश्वास रहता है और जिसमें विश्वास रहता है उसी के प्रति श्रद्धा होती है। इस प्रकार साधक अपने श्रद्धाभाव को सहेतुक व्यक्त कर धर्म के प्रति अपना विशेष आदर प्रकट करता है।

प्रतिज्ञा–सूत्र

असंजमं परियाणामि, संजमं उवसंपज्जामि। अबंभं परियाणामि, बंभं उवसंपज्जामि। अकप्पं परियाणामि, कप्पं उवसंपज्जामि। अण्णाणं परियाणामि, णाणं उवसंपज्जामि। अकिरियं परियाणामि, किरियं उवसंपज्जामि। मिच्छत्तं परियाणामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि। अबोहिं परियाणामि बोहिं उवसंपज्जामि। अम्मग्गं परियाणामि, मग्गं उवसंपज्जामि। जं संभरामि, जं च ण संभरामि, जं पडिक्कमामि, जं च ण पडिक्कमामि, तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स पडिक्कमामि।

शब्दार्थ–असंजमं–(मैं) असंयम को, **परियाणामि**–जानकर छोड़ता हूं, **संजमं**–संयम को, **उवसंपज्जामि**–ग्रहण करता हूं, **अबंभं परियाणामि**–शीलविरोधी प्रवृत्तियों को जानकर छोड़ता हूं (और), **बंभं उवसंपज्जामि**–ब्रह्मचर्य को ग्रहण करता हूं, **अकप्पं परियाणामि**–अकल्पनीय को (त्याग वृत्ति के विरुद्ध आचरण को) जानकर त्यागता हूं, **कप्पं उवसंपज्जामि**–कल्पनीय को ग्रहण करता हूं, **अण्णाणं परियाणामि**–अज्ञान को जानकर छोड़ता हूं (और), **णाणं उवसंपज्जामि**–ज्ञान को ग्रहण करता हूं, **अकिरियं परियाणामि**–अक्रिया अर्थात् नास्तिकता को

जानकर छोड़ता हूं (और), **किरियं उवसंपज्जामि**–क्रिया अर्थात् आस्तिकता को ग्रहण करता हूं, **मिच्छत्तं परियाणामि**–मिथ्यात्व को जानकर छोड़ता हूं (और), **सम्मत्तं उवसंपज्जामि**–सम्यक्त्व को ग्रहण करता हूं, **अबोहिं परियाणामि**–अज्ञान-साधनों को जानकर छोड़ता हूं (और), **बोहिं उवसंपज्जामि**–ज्ञान-साधनों को ग्रहण करता हूं, **अम्मग्गं परियाणामि**–विपरीत मार्ग को (जैन संस्कृति के विरुद्ध मार्गों को) जानकर छोड़ता हूं, **मग्गं**–अनुकूल मार्ग (जिन-संस्कृति-सम्मत पथ) को, **उवसंपज्जामि**–ग्रहण करता हूं, **जं संभरामि**–जिनका (अतिचार रूप दोषों का) स्मरण कर पाया हूं। **जं च**–और जिनका, **ण संभरामि**–मैं स्मरण नहीं कर पाया हूं, **जं पडिक्कमामि**–जिन अतिचारों के लिए प्रतिक्रमण कर चुका हूं, **जं च**–और जिनके लिए, **ण पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण नहीं कर पाया हूं, **तस्स सव्वस्स**–उन सब, **देवसियस्स**–दिन भर में किये गए, **अइयारस्स**–अतिचारों के लिए, **पडिक्कमामि**–मैं प्रतिक्रमण करता हूं, पीछे हटता हूं, अर्थात् उनसे मुक्त होने की भावना भाता हूं।

सरलार्थ–मैं असंयम को जानकर छोड़ता हूं और संयम को ग्रहण करता हूं। शील-विरोधी प्रवृत्तियों को जानकर छोड़ता हूं और ब्रह्मचर्य को ग्रहण करता हूं, अकल्पनीय अर्थात् त्यागवृत्ति के विरुद्ध आचरण को जान कर त्यागता हूं और कल्पनीय को ग्रहण करता हूं, अज्ञान को जानकर छोड़ता हूं और ज्ञान को ग्रहण करता हूं, अक्रिया अर्थात् नास्तिकता को छोड़ता हूं और क्रिया अर्थात् आस्तिकता को ग्रहण करता हूं, मिथ्यात्व को जान कर छोड़ता हूं और सम्यक्त्व को ग्रहण करता हूं, अज्ञान-साधनों को जानकर छोड़ता हूं और ज्ञान-साधनों को ग्रहण करता हूं, जैन-संस्कृति के विरोधी मार्ग को जानकर छोड़ता हूं और जिन-संस्कृति के अनुकूल मार्ग को अपनाता हूं, जिन अतिचार रूप दोषों का स्मरण कर पाया हूं और जिनका मैं स्मरण नहीं कर पाया, जिन अतिचारों के लिये प्रतिक्रमण कर चुका हूं और जिनके लिये मैं प्रतिक्रमण नहीं कर पाया हूं, दिन-भर में किये गए उन सब अतिचारों के लिये मैं प्रतिक्रमण करता हूं, अर्थात् उन अतिचारों से मुक्त होने की भावना भाता हूं।

भावार्थ–किसी वस्तु के विषय में सहसा त्याज्य और ग्रहणीय की भावना बना लेना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं माना जा सकता, अतः साधक प्रतिज्ञा करता है कि मैंने गुरुजनों के उपदेश आदि से तथा स्वाध्याय, मनन, चिन्तन आदि द्वारा जिसे हेय जाना है उसका त्याग करता हूं और साधना के लिये उपयोगी ग्राह्य तत्त्वों को ग्रहण करता हूं। यह साधक की अप्रमत्तता और विचारशीलता की द्योतक प्रतिज्ञा है।

प्रतिक्रमण-वेला में साधु-साध्वी की यह प्रतिज्ञा है कि मैं–असंयम, कुशील-व्यभिचारादि, साधुवृत्ति के अयोग्य, आचरण, अज्ञान, अक्रिया, मिथ्यात्व, अबोधि और उन्मार्ग आदि को छोड़ता हूं और संयम, ब्रह्मचर्य, कल्पनीय, ज्ञान, क्रिया, सम्यक्त्व, बोधि और सम्यक्त्व के अनुकूल मार्गों को ग्रहण करता हूं। यदि बुराइयों को छोड़कर अच्छाइयों को ग्रहण न करके केवल मौखिक प्रतिक्रमण मात्र कर लिया जाये तो वह किसी भी तरह लाभदायक नहीं हो सकता, इसलिये '**पडिक्कमामि**' कहने से पूर्व उक्त बुराइयों को छोड़कर साधु-साध्वी अच्छाइयों को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा को प्रतिदिन दोहराते हैं।

पिछले सूत्रों में हम कर्मबन्ध के कारण को क्रिया कह आए हैं, परन्तु यहां पर क्रिया शब्द 'क्रिया सम्यग्वादः' के अनुसार आस्तिकता का परिचायक शब्द है, अतः उसे ग्रहणीय कहा गया है।

प्रस्तृत सूत्र में ज्ञान और बोधि दो शब्द हैं। सामान्यतः, बोधि का अर्थ भी ज्ञान ही होता है, किन्तु प्रस्तुत सूत्र में 'ज्ञान' शब्द 'शास्त्रीय बोध' का सूचक है और 'बोधि' वह आध्यात्मिक जागृति है जो ज्ञान के अनन्तर स्वानुभूति के रूप में उत्पन्न होती है।

यद्यपि साधु के लिये संयम ही मार्ग है, अतः संयम के अनन्तर पुनः 'मार्ग' शब्द द्वारा यह भाव अभिव्यक्त किया गया है कि मैं संयम-साधना के लिये वही साधना-मार्ग अपनाऊंगा जो जैन संस्कृति के अनुकूल होगा, अन्य मार्ग चाहे सरल ही क्यों न हों, मैं उनके प्रति श्रद्धावान् नहीं बनूंगा।

आत्म-स्मरण सूत्र

समणोऽहं-संजय विरय-पडिहय-पच्चक्खाय पावकम्मो, अणियाणो, दिट्ठिसंपण्णो, मायामोसं विवज्जिओ।

शब्दार्थ–समणोऽहं–मैं श्रमण हूं, **संजय**–संयमी हूं, **विरय**–विरक्त हूं, **पडिहय**–नष्ट करने वाला (और) **पच्चक्खाय**–त्याग करने वाला हूं, **पावकम्मो**–पाप कर्मों का, **अणियाणो**–मैं अनिदान हूं, **दिट्ठिसंपण्णो**–सम्यग्दृष्टि को धारण करने वाला हूं, **मायामोसं**–छल-कपट (और) मृषावाद से, **विवज्जिओ**–रहित हूं।

सरलार्थ–(साधु-साध्वी आत्म-स्वरूप का चिन्तन करते हुए कहते हैं) मैं श्रमण हूं, संयमी हूं, विरक्त हूं, और पाप कर्मों को नष्ट करने वाला और त्यागने वाला हूं। मैंने सम्यक्दृष्टि (सम्यक्त्व) धारण की है, अतः मैं छल-कपट एवं मृषावाद (असत्य-भाषण एवं असत्याचरण) से मुक्त हूं।

भावार्थ–अपने आपको समझना और अपने स्वरूप के अनुकूल गृहीत व्रत-साधना की रक्षा करना प्रत्येक साधक का कर्तव्य है। स्वरूप-चिन्तन आत्म-चिन्तन की भूमिका है और यह प्रायः सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों में किसी न किसी रूप में विहित है। वेदान्ती लोग '**अहं ब्रह्मास्मि**', शैव '**शिवोऽहम्**', नाथयोगी '**सोऽहम्**' सूफी '**अनलहक**' आदि शब्दों द्वारा अपनी-अपनी पद्धतियों और आस्थाओं के अनुरूप आत्म-स्मरण किया करते हैं।

जैन साधु अपने स्वरूप-चिन्तन की वेला में अपने बाह्य और अन्तर् दोनों स्वरूपों का भलीभांति चिन्तन करता है। वह सबसे पहले कहता है–'**श्रमणोऽहम्**', मैं श्रमण हूं अर्थात् मैंने आध्यात्मिक साधना के लिये श्रम करते रहने की प्रतिज्ञा की हुई है। अतः मुझे श्रम से उपरत नहीं होना है। अनुयोगद्वार सूत्रानुसार–'**सममणइ तेण सो समणो।**' आचार्य हरिभद्र के शब्दों में–'**श्राम्यतीति श्रमणः तपस्यतीत्यर्थः**'–अर्थात् जो तप करता है वह श्रमण है, इसलिए मुझे द्वादशविध तपश्चर्या को कभी विस्मृत नहीं होने देना है। मुझे यह भी ध्यान रखना है कि–'**शममानयति पञ्चेन्द्रियाणि**

मनश्चेति वा शमनः'–जो पांच इन्द्रियों और मन को शान्त रखते हैं वे ही शमन कहलाते हैं, अतः मुझे पांचों इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण रखना है। तभी मैं 'श्रमण' कहलाने का अधिकारी बन सकता हूं।

अपने श्रमणत्व के इस स्वरूप का स्मरण करते ही वह आत्म-विश्वास से कहता है–'मैं संयमी हूं–संयम की दृढ़ता के लिये यत्नशील रहने वाला साधक हूं'। अतः मुझे सम्यक्त्व की प्राप्ति एवं विकास के लिये सदैव यत्नशील रहना है।

तभी वह सोचता है कि सम्यक्त्व एवं श्रमणत्व की रक्षा के लिये मुझे प्रत्येक सांसारिक दुष्प्रवृत्ति से दूर रहना होगा, मैंने उनसे दूर रहने की प्रतिज्ञा की है, अतः मैं विरक्त हूं–सर्वथा संसार-त्यागी हूं।

सांसारिक दुष्प्रवृत्तियां तो मनुष्य को सर्वत्र घेरे हुए हैं, ऐसा कौनसा स्थान है जहां दुष्प्रवृत्तियों का जाल न फैला हो–जहां पाप-कर्म का अभाव हो। तब साधक का विश्वास कहता है कि फैली रहें दुष्प्रवृत्तियां, बिखरे रहें चारों ओर पाप-कर्म, मुझे उनसे क्या प्रयोजन है? मैंने तो उनका त्याग कर दिया है, यदि किसी परिस्थिति वश मुझे कोई पाप-कर्म घेरेगा भी तो मैं उसका नाश करने में समर्थ हूं।

मेरी प्रत्येक साधना–तपस्या केवल कर्मक्षय के लिये है, किसी सांसारिक पदार्थ की प्राप्ति, मेरी साधना का लक्ष्य नहीं है, अतः मैं अनिदान हूं।

मैं तप करता हूं तप के लिए, मेरी साधना आत्मोद्धार के लिए है–मैंने अपनी इस सम्यक्त्व-सम्पन्न-दृष्टि की रक्षा करते हुए छल-कपट से दूर रहना है। यदि मैं ऐसा कर पाया तभी मैं अपने को दावे के साथ '**श्रमणोऽहम्**' का उद्बोध दे सकता हूं।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र की भावना के साथ साधक आत्मचिन्तन करता है–अपने स्वरूप का परिज्ञान करता है।

नमस्कार-सूत्र

अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु, पण्णरससु कम्मभूमिसु, जावंत

केवि साहू-रयहरण गुच्छगं पडिग्गहंधारा। पंच महव्वय-धारा, अट्ठारस्स सहस्स सीलंगधारा। अक्खयायार चरित्ता ते सव्वे सिरसा, मणसा, मत्थएण वंदामि।

शब्दार्थ–अड्ढाइज्जेसु–अढाई, **दीवसमुद्देसु**–द्वीप-समुद्रों में, **पण्णरससु**–पन्द्रह, **कम्मभूमीसु**–कर्मभूमियों में, **जावंति केवि**–जो कोई भी, **साहू**–साधु हैं, (कैसे साधु?) **रयहरण**–रजोहरण, **गुच्छग**–गोच्छग (और), **पडिग्गह धारा**–पात्रों के धारक हैं, **पंच महव्वयधारा**–पांच महाव्रतों को धारण करने वाले हैं, **अट्ठारस्स सहस्स**–अठारह हजार, **सीलंगधारा**–शील अर्थात् सदाचार के अंगों को धारण करने वाले हैं, **अक्खयायार चरित्ता**–अक्षय आचार रूप चरित्र को धारण करने वाले हैं, **ते सव्वे**–उन सबको, **सिरसा**–सिर से, **मणसा**–मन से, **मत्थएण वंदामि**–मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं।

सरलार्थ–अढ़ाई द्वीप-समुद्रों के अन्तर्गत पन्द्रह कर्म-भूमियों में जो कोई भी अर्थात् किसी भी जैन-सम्प्रदाय विशेष के (बाह्य दृष्टि से) रजोहरण, गोच्छक और पात्रों को धारण करने वाले तथा आन्तरिक दृष्टि से पांच महाव्रतों के धारक, अठारह हजार शीलांगों को धारण करने वाले परिपूर्ण आचार रूप चारित्र के पालन करने वाले साधु हैं, उन सबको मैं सिर से, मन से और मस्तक से वन्दना करता हूं।

भावार्थ–अढ़ाई द्वीप-समुद्र से अभिप्राय है–जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और अर्धपुष्करद्वीप, लवण समुद्र तथा कालोदधि समुद्र का क्षेत्र। इसी क्षेत्र में मानवी सृष्टि है। मानव ही श्रमणत्व ग्रहण कर साधना-पथ पर अग्रसर हो सकता है, अतः अढ़ाई द्वीप-समुद्र परिमाण क्षेत्र के साधु-वृन्द को नमस्कार किया गया है।

पन्द्रह कर्मभूमियों से अभिप्राय है–पांच भरत, पांच ऐरवत तथा पांच महाविदेह–ये पन्द्रह भूमियां कर्मभूमियां कहलाती हैं।

रजोहरण, गुच्छग (पूंजनी) और काष्ठ-पात्र इत्यादि साधु के बाह्य चिह्न बताए गए हैं और पांच महाव्रतों का पालन, अठारह हजार शील-गुणों का पालन और अक्षत आचार रूप चारित्र, ये साधु के आन्तरिक गुण हैं। यहां

पर साधु-साध्वी साम्प्रदायिक सीमाओं को तोड़कर अपनी भावनाओं के विराट् रूप का परिचय देते हैं।

अठारह हजार शीलांग से अभिप्राय है-

(क) श्रमण-धर्म के दस भेद बताए गए हैं।

(ख) इस दस की संख्या को पृथ्वीकाय आदि दश की विराधना न करने की दस भावनाओं से गुणा करने पर 100 गुण हो जाते हैं।

(ग) पृथ्वीकाय आदि की विराधना पांच इन्द्रियों से होती है अतः 5 से गुणा करने पर शील के 500 भेद हो जाते हैं।

(घ) इस 500 की संख्या को आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा और परिग्रह-संज्ञा, इन चारों से क्रमशः गुणा करने पर 2000 भेद हो जाते हैं।

(ङ) इस 2000 की संख्या को मन-वचन-काय, इन तीन से गुणा करने पर 6000 भेद हो जाते हैं।

(च) इस 6000 की संख्या को, करना, कराना, अनुमोदना इन तीन भेदों से गुणा करने पर 18000 शील-गुणों से युक्त समस्त मुनिवरों को वन्दना करते हैं।

'**मत्थएण वन्दामि**' कहते हुए सिर स्वतः ही झुक जाता है। वस्तुतः उस समय वन्दना वाचिक होती है, अतः यहां '**शिरसा**' से वाचिक वन्दना समझनी चाहिए। '**मनसा**' से मानसिक वन्दना होती है और '**मत्थएण**' शब्द का लाक्षणिक अर्थ पैर से लेकर मस्तक तक समस्त शरीर से वन्दना करना है, अतः यह कायिक वन्दना है। अतः मन-वचन-काय इन तीन योगों से वन्दना का पूर्णभाव व्यक्त होता है।

क्षमापना-सूत्र

खामेमि सव्वे जीवे य, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणई॥1॥

शब्दार्थ-खामेमि-मैं क्षमा करता हूं, **सव्वे जीवे**-सभी जीवों को, **य**-और, **सव्वे जीवा**-सभी जीव, **खमंतु मे**-मुझे क्षमा करें, **मेत्ती**-मित्र भाव

(हो), **मे**–मेरा, **सव्वभूएसु**–सब जीवों में, **वेरं**–वैरभाव, **मज्झं**–मेरा, **ण**–न हो, **केणई**–किसी से भी।

सरलार्थ–मैं सब जीवों को क्षमा करता हूं और सब जीव मुझे (भी) क्षमा करें। सब जीवों से मेरी मित्रता है, किसी के साथ मेरा वैरभाव नहीं है।

भावार्थ–क्षमा जैन-संस्कृति का प्रधान स्वर है और साधु-गुणों में क्षमा का विशिष्ट स्थान ही नहीं क्षमा साधु-जीवन का अभिन्न अंग है, इसीलिये जैन साधु के लिये '**क्षमा-श्रमण**' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

क्षमा-सूत्र में क्षमा को अपना धर्म जान कर साधक सर्वप्रथम अपनी उदात्त भावना से कहता है–'मैं सब जीवों को क्षमा करता हूं'–जब सबको क्षमा कर दिया तो उसकी दृष्टि कीड़ी-कुंजर से लेकर समस्त सृष्टि को समभाव से देखने लगती है, अतः वह सब जीवों को अपना मित्र कहता है।

'सब जीव मुझे क्षमा करें'– कहकर वह अपने विनयभाव और अहंकार शून्यता की पुष्टि करता है और वह समस्त जीवों को विश्वास दिलाता है कि मेरा किसी से भी वैरभाव नहीं है–मैं निर्वैर हूं।'

उपर्युक्त शब्दों में जैन साधु का पावन उदात्त रूप प्रकट होता है और इस स्वरूपावस्थिति में वह '**श्रमणोऽहम्**' की अपनी भावना को मूर्तरूप देकर साधनाशील होता है।

पूर्णता–सूत्र

एवमहं आलोइय निंदिय, गरहिय, दुगंच्छिय सव्वं।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउवीसं॥

शब्दार्थ–एवमहं–इस प्रकार (मैंने), **आलोइय**–(समस्त अतिचारों की) आलोचना की है, **निंदिय**–निन्दा की है, **गरहिय**–गर्हा की है, **दुगंच्छिय**–घृणा की है (जुगुप्सा की है), **सव्वं**–उन सबकी, **तिविहेण**–तीन योग अर्थात् मन, वचन, काया से, **पडिक्कंतो**–प्रतिक्रमण करता हुआ, **वंदामि**–वंदना करता हूं, **जिणे चउवीसं**–राग-द्वेष विजयी चौबीस तीर्थंकरों को।

सरलार्थ–इस प्रकार मैं सब पापों की आलोचना करके, निन्दा करके, गर्हा करके, जुगुप्सा अर्थात् घृणा करके तीन प्रकार अर्थात् मन, वचन एवं काया से पापों से निवृत्त होकर चौबीस जिनेन्द्रों को वन्दना करता हूं।

भावार्थ–प्रतिक्रमण के आरम्भ में '**तिक्खुतो**' के पाठ पूर्वक गुरु-वन्दन करके साधक ने प्रतिक्रमण प्रारम्भ किया था और जिनेन्द्र-वन्दन पूर्वक वह प्रतिक्रमण को पूर्ण कर रहा है।

'**आलोचना**'–का अर्थ है अपनी भूलों को सच्चाई के साथ गुरु के समक्ष कहना।

'**निन्दा**'–से अभिप्राय है–मन ही मन आत्म-साक्षी से अपनी बुराइयों की एवं अपनी बुराई करने की भावना को निन्दनीय समझ कर उन्हें छोड़ने की प्रतिज्ञा करना।

'**गर्हा**' का अर्थ है आत्म-शुद्धि के लिए गुरुजनों की साक्षी से अपनी भूलों को मान लेना।

'**जुगुप्सा**' का अर्थ है बुराइयों से घृणा करना और उन्हें घृणित समझ कर उनसे दूर रहने की भावना भाना। जब साधक यह समझ लेता है कि मैं प्रतिक्रमण द्वारा आत्म-शुद्धि कर चुका हूं, तब वह कहता है मैं अपने जीवन की भूलों की मन से, वचन से और काया से आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा करके जिनेन्द्र भगवन्तों को वन्दना करता हूं। शुद्ध होकर किया गया वन्दन ही वास्तविक वन्दन है।

विधि–इसके अनन्तर दो बार '**इच्छामि खमासमणो**' का पाठ यथाविधि पढ़ें और तदनन्तर पंचपरमेष्ठी की वन्दना करें।

परमेष्ठी–वन्दना

अरिहंत–वन्दना

नमूं श्री अरिहन्त, कर्मों का किया अन्त।
हुआ सो केवलवन्त, करुणा भण्डारी है॥

अतिशय चौंतीस धार, पैंतीस वाणी उच्चार।
समझावे नर-नार पर उपकारी है॥

शरीर सुन्दराकार, सूरज सो झलकार।
गुण हैं अनन्तसार, दोष परिहारी है॥

कहत हैं तिलोकरिख, मन-वच-काया करी।
झुकि-झुकि बारम्बार, वन्दना हमारी है॥1॥

नमो अरिहंताणं–पहले पद श्री अरिहन्त महाराज चौंतीस अतिशय, 35 वाणी के गुणोंकरी विराजमान, महाविदेह क्षेत्र में जयवन्त विचरे श्री सीमन्धर स्वामी (श्री युगमन्धर स्वामी, श्री बाहु स्वामी, श्री सुबाहु स्वामी, श्री सुजात स्वामी, श्री स्वयंप्रभ स्वामी, श्री ऋषभानन स्वामी, श्री अनन्तवीर्य स्वामी, श्री सूरप्रभ स्वामी, श्री विशालधर स्वामी, श्री वज्रधर स्वामी, श्री चन्द्रानन स्वामी, श्री चन्द्रबाहु स्वामी, श्री भुजंग स्वामी, श्री ईश्वर स्वामी, श्री नेमप्रभ स्वामी, श्री वीरसेन स्वामी, श्री महाभद्र स्वामी, श्री देवयश स्वामी, श्री अजितवीर्य स्वामी) आदि जघन्य 20, उत्कृष्ट 160 तथा 170 तीर्थंकर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त बल, देव–दुन्दुभी, भामण्डल, स्फटिक सिंहासन, अशोक–वृक्ष, पुष्प–वृष्टि, दिव्य ध्वनि, छत्र धरे, चामर वींजे, इन 12 गुणों से विराजमान, चौंसठ इन्द्रों के पूजनीय, जघन्य दो करोड़, उत्कृष्ट नौ करोड़ केवली, केवल–ज्ञान, केवल दर्शन कर सहित, 18 दोषों से रहित, सर्व द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव के जानकार इत्यादि अनेक गुणों कर विराजमान जिन महाराजों को मेरी भाव–वन्दना नमस्कार हो जो।

ऐसे अरिहन्त भगवन्त महाराज! आपकी दिवस–सम्बन्धी अविनय–आशातना हुई हो तो 1008 बार तिक्खुत्तो के पाठ से नमस्कार करता हूं।

आप मांगलिक हो, उत्तम हो, आपका इस भव में पर-भव में शरणा हो जो।।1।।

सिद्ध-वन्दना

सकल कर्म टाल, वश कर लियो काल।
मुक्ति में रह्या माल, आत्मा को तारी है।।
देखत सकल भाव, हुआ है जगत राव।
सदा ही क्षायिक भाव, भये अविकारी है।।
अचल अटल रूप, आवे नहीं भव-कूप।
अनुप-सरूप-ऊप, ऐसे सिद्धिधारी है।।
कहत है तिलोकरिख, बताओ ए वास प्रभु।
सदा ही उगंत सूर, वन्दना हमारी है।।2।।

नमो सिद्धाणं-दूसरे पद श्री सिद्ध भगवन्त महाराज 14 प्रकारे 15 भेदे सिद्ध (सकल कर्म-रहित) हुए हैं, आठ गुणाकरी विराजमान, 1. अनन्त ज्ञान, 2. अनन्त दर्शन, 3. अनन्त सुख, 4. क्षायिक समकित, 5. अटल अवगाहना, 6. अमूर्तपना, 7. अगुरुलघु, 8. अनन्त बल, इकतीस अतिशय से विराजमान, पांच भेदे ज्ञानावरणीय कर्म क्षय किये, नौ भेदे दर्शनावरणीय कर्म-क्षय किये, दो भेदे वेदनीय कर्म क्षय किये, दो भेदे मोहनीय कर्म क्षय किए, चार भेदे आयु कर्म क्षय किये, दो भेदे नामकर्म क्षय किये, दो भेदे गोत्रकर्म क्षय किये और पांच भेदे अन्तरायकर्म क्षय किये, जहां जन्म नहीं, जरा नहीं, मरण नहीं, भय नहीं, रोग नहीं, शोक नहीं, दुःख नहीं, दारिद्र्य नहीं, कर्म नहीं, काया नहीं, मोह नहीं, लघु नहीं, गुरु नहीं, यावत् निरञ्जन निराकार ज्योति-स्वरूप ज्योति में विराजमान अनन्त सुख में लवलीन, उन सिद्ध भगवंतों को मेरी भाव-वन्दना नमस्कार हो जो।

ऐसे श्री सिद्ध भगवन्त महाराज आपकी अविनय-आशातना हुई हो तो हाथ जोड़ 1008 बार तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दना-नमस्कार करता हूं। हे सिद्ध भगवन्त! महाराज! आप मांगलिक हो, उत्तम हो, आपका इस भव में पर-भव में शरणा हो जो।।2।।

आचार्य–वन्दना

गुण हैं छत्तीसपूर, धारत धरम उर।
मारत कर्म कूर, सुमति विचारी है।।
शुद्ध सो आचारवन्त, सुन्दर है रूप कन्त।
भणया सभी सिद्धान्त, वाचणी सुप्यारी है।।
अधिक मधुर वेण, कोई नहीं लोपे केण।
सकल जीवों का सेण, कीरत अपारी है।।
कहत है तिलोकरिख, हितकारी देत सीख।
ऐसे आचारज ताकूं, वन्दना हमारी है।।3।।

नमो आयरियाणं–तीजे पद श्री आचार्य महाराज, 36 गुणाकरी विराजमान, पांच आचार पालें, पांच महाव्रत पालें, पांच इन्द्रियां जीतें, चार कषाय टालें, नौ बाड़ शुद्ध शील पालें, पांच समिति, तीन गुप्ति से गुप्त, आठ संपदा–सहित, निश्चल समकिती, निकट भवी, शुक्ल पक्षी, मोक्ष–मार्ग के सारथी इत्यादि अनेक गुणों से विराजमान उन आचार्य भगवंतों को मेरी भाव–वन्दना–नमस्कार हो जो।

ऐसे श्री आचार्य महाराज! आपकी अविनय–आशातना हुई हो तो हाथ जोड़ 1008 बार तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दना–नमस्कार करता हूं। हे आचार्य महाराज! आप मांगलिक हो, उत्तम हो, आपका इस भव में परभव में बारम्बार शरण हो जो।।3।।

उपाध्याय–वन्दना

पढ़त इग्यारह अंग, कर्मों से करे जंग।
पाखंडी को मान भंग, करण हुसियारी है।।
चउदे पूरव-धार, जानत आगम-सार।
भवियन के सुखकार, भ्रमता निवारी है।।
पढ़ावे भविक जन, स्थिर करि देते मन।
तप करी तावे तन, ममता निवारी है।।
कहत है तिलोकरिख ज्ञान-भानु परतिख।
ऐसे उपाध्याय जी को वन्दना हमारी है।।4।।

नमो उवज्झायाणं–चौथे पद श्री उपाध्याय जी महाराज आप पढ़ें औरों को पढ़ावें, पच्चीस गुणोकर विराजमान, ग्यारह अंग, बारह उपांग के पाठक, **ग्यारह अंगों के नाम**–1 आचाराङ्ग, 2. सूयगडांग, 3. ठाणांग, 4. समवायांग, 5. भगवती, 6. ज्ञाता, 7. उपासक-दशाङ्ग, 8. अन्तगड-दशाङ्ग, 9. अनुत्तरोववाई, 10. प्रश्नव्याकरण, 11. विपाक सूत्र। **बारह उपांग**–1. उववाई, 2. रायपसेणी, 3. जीवाभिगम, 4. पन्नवणा, 5. जम्बूदीप-पन्नत्ति, 6. चन्दपन्नत्ति, 7. सूरपन्नत्ति, 8. निरयावलि, 9. कप्पवडंसिया, 10. पुप्फिया, 11. पुप्फ-चूलिया, 12. वह्निदसा। चार मूल तथा चार छेद के जानकार करण-सत्तरी, चरण-सत्तरी के धारणहार, समकित रूप प्रकाश के करणहार, मिथ्यात्वरूप अंधकार के मेटनहार, धर्म को दिपाने वाले, डिगते प्राणी को धर्म में स्थिर करने वाले, इत्यादि अनेक गुणों सहित ऐसे श्री उपाध्याय जी महाराज को मेरी भाव-वन्दना-नमस्कार हो।

हे उपाध्याय जी महाराज! आपकी दिवस-सम्बन्धी अविनय-आशातना हुई हो तो बारम्बार 1008 बार तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दना करता हूं। हे उपाध्याय जी महाराज! आपका इस भव में पर-भव में शरण हो जो।।4।।

साधु–वन्दना

आदरी संयमभार, करणी करे अपार।
समिति गुपतिधार, विकथा निवारी है।।
जयणा करे छ काय, सावज्ज न बोले वाय।
बुझाय कषाय लाय, किरिया-भण्डारी है।।
ज्ञान भणे आठों याम, लेवे भगवन्त नाम।
धरम को करे काम, ममता कूं मारी है।।
कहत है तिलोकरिख, कर्मों का टाले विख।
ऐसे मुनिराज ताको वन्दना हमारी है।।5।।

नमो लोए सव्व-साहूणं–पांचवें पद, अढ़ाई द्वीप, पन्द्रह क्षेत्र रूप लोक के विषय साधु जी महाराज[1]! जघन्य दो हजार करोड़, उत्कृष्टा नव

1. यहां अपने-अपने गुरु जी महाराज का नाम बोलना चाहिए।

हजार करोड़ जयवंता विचरे, पांच महाव्रत पालें, पांच इन्द्रिय जीतें, चार कषाय टालें, भाव-सच्चे, करण-सच्चे, जोग-सच्चे, क्षमावन्त, वैराग्यवन्त, मन-समाधारणया, वय-समाधारणया, काय-समाधारणया, नाण-सम्पन्ना, दंसण-सम्पन्ना, चरित्त-सम्पन्ना, वेदनीय-समा-अहियासणया, मरणान्तिक कष्ट सहें, ऐसे सत्तावीस गुणों करके विराजमान, बावन अनाचार टालें, बियालीस दोष टाल के आहार लेवें, पांच मांडलिक दोष टाल के आहार करें, बाईस परीषह जीतें, सत्रह प्रकार संयम पालें, बारह भेद तप के करणहार, छह काया के पीहर, छह काया के ग्वाल, छह काया के प्रतिपाल, बुलाये आवे नहीं, नेतिये जीमे नहीं, भ्रमर-भिक्षा के लेनहार, वस्त्र, पात्र, आहार, स्थानक निर्दोष भोगवें, भगवान् की आज्ञा में विचरें, इत्यादि अनेक गुणों से विराजमान उन महापुरुषों को मेरी भाव-वन्दना- नमस्कार हो जो।

ऐसे गुरु महाराज! आपकी दिवस-सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो बारम्बार 1008 बार तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दना करता हूं। हे स्वामी नाथ! आपका इस भव, पर-भव में सदाकाल शरण हो जो।।5।।

गुरु-वन्दना

जैसे कपड़ा को थान, दरजी वेतत आण।
खण्ड-खण्ड करे जाण, देत सो सुधारी है।।
काठ के ज्यूं सूत्रधार, हेम को कसे सुनार।
माटी के ज्यूं कुम्भकार, पात्र करे त्यारी है।।
धरती को किरसान, लोहे को लुहार जाण।
शिलावट शिला आण, घाट घड़े भारी है।।
कहत हैं त्रिलोक रिख, सुधारे ज्यूं गुरु शिष्य।
गुरु उपकारी नित, लीजे बलिहारी है।।6।।

गुरु मित्र, गुरु मात, गुरु सगा, गुरु तात।
गुरु भूप, गुरु भ्रात, गुरु हितकारी है।।
गुरु रवि, गुरु चन्द्र, गुरु पति गुरु इन्द्र।
गुरुदेव देत आनन्द गुरु पद भारी है।।

गुरु देत ज्ञान ध्यान, गुरु देत दान-मान।
गुरु देत मोक्ष स्थान, सदा उपकारी है॥
कहत हैं त्रिलोक रिख, भली-भली देवें सीख।
पल-पल गुरु जी को वन्दना हमारी है॥7॥

तत्पश्चात् तिक्खुत्तो के पाठ से गुरु महाराज को वंदना करके निम्नलिखित पाठ पढ़ें–

सामूहिक वन्दना

अनंत चौबीसी ते नमो, सिद्ध अनंता कोड़।
केवल-ज्ञानी स्थविर सभी, वन्दौं बे कर जोड़॥1॥
दो कोडी केवल-धरा, विहरमान जिन बीस,
सहस्त्र युगल कोड़ी नमो, साधु वंदौं निसदीस॥2॥

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकायें, चार गति, चौबीस दंडक, चौरासी लाख जीव-योनि साथ मैं खमाउं बार-बार तथा म्हारे जीवे कोई जीव नी विराधना करी हो, कराई हो, करतां प्रति अनुमोद्या हो और एक-एक जीव के साथ अठारह लाख चौबीस हजार एक सौ बीस[1] प्रकारे मिच्छा मि दुक्कडं।[2]

---

1. जीवतत्त्व के 563 भेदों को अभिहया, वत्तिया, लेसिया आदि दस के साथ गुणा करने से 5630 भेद होते हैं। फिर इनको राग और द्वेष के साथ गुणा करने से 11260 भेद बनते हैं। फिर इन्हीं को मन, वचन और काय के साथ गुणा करने से 33780 भेद बनते हैं। फिर इनको करना, कराना अनुमोदन रूप तीन करणों के साथ गुणाकार करने से 101340 भेद होते हैं। इनको पुनः तीन काल के साथ गुणाकार करने से 304020 भेद होते हैं। फिर इन्हीं को अर्हन्, सिद्ध, देव, गुरु और आत्मा इस प्रकार छः से गुणाकार करने से 1824120 तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।
2. कुछ संप्रदायों में इस पाठ के बाद निम्नलिखित दो गाथायें अधिक पढ़ी जाती हैं–

आयरिय-उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुलगणे अ।
जे मे केई कसाया, सव्वं तिविहेण खामेमि॥
सव्वस्स समण-संघस्स, भगवओ अंजलिं करिअ सीसे।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि॥

अथवा

सात लाख पृथिवीकाय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेजस्काय, सात लाख वायुकाय, दस लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारण वनस्पतिकाय, दो लाख बेन्द्रिय, दो लाख तेन्द्रिय, दो लाख चतुरिन्द्रिय, चार लाख देव, चार लाख नारकी, चार लाख निर्यञ्च पंचेन्द्रिय, चौदह लाख मनुष्य, एवं चौरासी लाख जीव-योनिक में से यदि मैंने कोई जीव हनन किया हो, अन्य को मारने का उपदेश दिया हो, व हनन कर्त्ताओं की अनुमोदना की हो, वे सब मन, वचन, काय करके 18 लाख, 24 हजार, 1 सौ, बीस प्रकारे तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणइ॥
एवमहं आलोइय निंदिय, गरहिय, दुगुंच्छियं सम्मं।
तिविहेण पडिक्कंतो वंदामि जिणे चउवीस॥

॥ चतुर्थ आवश्यक समाप्त ॥

पंचम आवश्यक : कायोत्सर्ग

विधि–गुरु महाराज को '**तिक्खुत्तो**' के पाठ से विधिपूर्वक वंदना करके पांचवां आवश्यक करने की आज्ञा लेकर निम्नलिखित सूत्र पढ़ें–

कायोत्सर्ग–सूत्र

आवस्सही इच्छाकारेण संदिसह भगवं! देवसी प्रायश्चित्त-विशोधनार्थं करेमि काउसग्गं।

शब्दार्थ–आवस्सही–अवश्य ही करणीय धर्मकृत्य करने की, **इच्छाकारेण**–मेरी इच्छा है, **संदिसह**–मुझे आज्ञा दीजिए, **भगवं!**–हे भगवन्! मैं, **देवसी**–दिन-भर में (पापों की निवृत्ति के लिए किए गए), **प्रायश्चित्त**–प्रायश्चित्त की, **विशोधनार्थं**–विशुद्धि के लिए, **करेमि**–मैं करूं, **काउसग्गं**–कायोत्सर्ग।

सरलार्थ–भगवन्! अवश्य ही करणीय धर्म-कृत्य करने की मेरी इच्छा है, (अत:) मुझे आज्ञा दीजिए (कि मैं) दिन भर में हुए पापों की निवृत्ति के लिये किए गए प्रायश्चित्त की विशुद्धि के लिये कायोत्सर्ग करूं।

भावार्थ–कायोत्सर्ग का अर्थ है–शरीर का त्याग, परन्तु इसका अर्थ मृत्यु नहीं है। शरीर-त्याग का अर्थ है–शारीरिक मोह एवं शारीरिक भान को त्याग कर आत्मलीन हो जाना, अर्थात् अपनी समस्त चित्त-वृत्तियों को अन्तर्मुखी बना कर आत्म-अवस्थित हो जाना। इस दशा में साधु का बाह्य संसार से किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध शेष रहीं रह जाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के उनत्तीसवें अध्ययन में गौमत स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया कि कायोत्सर्ग से जीव को क्या प्राप्त होता है? तब भगवान् कहते हैं–

कायोत्सर्ग से जीव अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्त योग्य अतिचारों का विशोधन करता है, प्रायश्चित्त से विशुद्ध हुआ जीव अपने भार को उतार कर फैंक देने वाले भारवाहक की तरह निर्वृत-हृदय अर्थात् शान्तात्मा हो जाता है और प्रशस्त ध्यान में लीन होकर सुखपूर्वक विचरण करता है।

प्रत्येक संसारी जीव अपने सिर पर पापों का भार लिये फिरता है, पाप-कर्म का सम्बन्ध आत्मा और शरीर के होने पर ही होता है, जब शरीर से सम्बन्ध टूट जाएगा तो कारण के अभाव में कार्य की अर्थात् पाप की सत्ता भी समाप्त हो जाएगी, अतः प्रतिक्रमण के अनन्तर पाप-मुक्ति के लिये 'कायोत्सर्ग' का विधान एक वैज्ञानिक प्रयोग है।

॥ पंचम आवश्यक समाप्त ॥

षष्ठ आवश्यक : प्रत्याख्यान

विधि–पहले **'नवकार मन्त्र'** पढ़ें, फिर **'करेमि भंते'** का पाठ पढ़ें फिर **'इच्छामि ठामि'** का पाठ पढ़ें, फिर **'तस्स उत्तरी'** का पाठ पढ़कर ध्यान करे और ध्यान में देवसि को 4 लोगस्स, रात्रि को दो। शेष तप-विचार, पक्खी को 8, चातुर्मासी को 12, संवत्सरी को 20 लोगस्स का ध्यान करे। फिर ध्यान पार कर एक बार **'लोगस्स उज्जोयगरे'** का पाठ पढ कर दो बार पूर्वोक्त विधि अनुसार **'इच्छामि खमासमणो'** का सूत्र पढ़े। फिर **'तिक्खुत्तो'** का पाठ पढ़ कर छठे प्रत्याख्यान आवश्यक की आज्ञा लेकर यथाशक्ति प्रत्याख्यान करे। प्रत्याख्यान करके निम्नलिखित पाठ पढ़े–

'सामायिक एक, चउवीसत्थव दो, वंदना तीन, पडिक्कमण चार, काउसग्ग पांच, छट्ठा पच्चक्खाण हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ थवत्थुइ मंगलं।'

फिर दो बार **'नमोत्थुणं'** का पाठ विधिपूर्वक पढ़े।

1. नमस्कार पूर्वक मुहूर्त्त–प्रत्याख्यान

उग्गयसूरे नमुक्कार सहियं पच्चक्खामि चउव्विहंपि आहारं–असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहस्सागारेणं वोसिरामि।

शब्दार्थ–**उग्गयसूरे**–(मैं) सूर्य के उदित होने पर, **नमुक्कार सहियं**–नमस्कार मंत्र सहित, **पच्चक्खामि**–प्रत्याख्यान करता हूं, **चउव्विहं पि**–चारों प्रकार के, **आहारं**–आहार का (जैसे कि), **असणं**–अशन (खाने के पदार्थों) का, **पाणं**–पीने के पदार्थों का, **खाइमं**–फल आदि पदार्थों का, **साइमं**–स्वाद के लिये खाये जाने वाले लौंग, चूरन आदि पदार्थों

का, **अन्नत्थऽणाभोगेणं**–यदि बिना उपयोग के अर्थात् भक्षण करते समय प्रत्याख्यान की स्मृति न रहे तो (तथा), **सहस्सागारेणं**–यदि कोई वस्तु मुख में अचानक जा पड़े (यह दोनों आगार रखकर), **वोसिरामि**–त्याग कर रहा हूं। (सरलार्थ शब्दार्थ द्वारा स्पष्ट है।)

भावार्थ–साधक इस प्रत्याख्यान के द्वारा सूर्योदय से लेकर दो घड़ी दिन चढ़ने तक के लिये अशनादि का प्रत्याख्यान करता है और प्रतिज्ञा करता है कि इन दो घड़ियों के बीत जाने पर भी जब तक 'नमस्कार-मन्त्र' का उच्चारण न कर लूंगा, तब तक मैं इस प्रत्याख्यान की अवधि की पूर्णता न समझूंगा।

मनुष्य का आहार चार प्रकार का होता है–

(क) **अशन**–इसमें प्रायः अन्न-निर्मित पदार्थों का ग्रहण किया जाता है, जैसे चावल, दाल, रोटी, हलवा, पूड़ी आदि।

(ख) **पान**–इसके अन्तर्गत सभी पेय पदार्थों का समावेश हो जाता है, जैसे–दूध, लस्सी, शर्बत, फलों के रस आदि।

(ग) **खादिम**–बादाम, अखरोट आदि सूखे मेवे तथा अन्य फल।

(घ) **स्वादिम**–चूरन, चटनी, लौंग, शाक-भाजी आदि।

इस नवकारसी प्रत्याख्यान में इन चारों आहारों का दो घड़ी के लिये त्याग किया जाता है। यद्यपि मूल में कहीं दो घड़ी का उल्लेख नहीं है, परन्तु अल्पकालिक इस प्रत्याख्यान के लिये दो घड़ी की मर्यादा परम्पराबद्ध है।

इस प्रत्याख्यान में दो आगार अर्थात् अपवाद रखे गए हैं, जैसे कि–

अन्नत्थ-अनाभोगेन–अनाभोग का अर्थ है प्रत्याख्यान की सर्वथा विस्मृति की दशा में कुछ मुख में डाल लेने पर मेरा व्रत-भंग न होगा। हां, जान-बूझ कर चतुर्विध आहार का त्याग अवश्य करूंगा।

सहसाकार–सहसाकार का अर्थ है अचानक कुछ मुख में पड़ जाने की दशा में मेरी व्रत-प्रतिज्ञा भंग न होगी, जैसे कि–आकाश से बरसते पानी की कोई बूंद मुख में पड़ जाय, अथवा दही बिलोते समय कोई छींट उड़ कर मुख में पड़ जाती है।

इस प्रत्याख्यान में नमस्कार मन्त्र की प्रधानता के कारण इसे '**नमस्कारिका**' कहा जाता है और इसे ही प्रचलित भाषा में '**नवकारसी**' कहते हैं।

विशेष—स्वयं प्रत्याख्यान करना हो तो '**पच्चक्खामि**' और '**वोसिरामि**' कहना चाहिये। यदि गुरुजन प्रत्याख्यान कराएं तो वे '**पच्चखाइ**' और '**वोसिरे**' कहें।

2. एक प्रहर—पौरुषी प्रत्याख्यान

उग्गयसूरे पोरिसिं पच्चक्खामि, चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहस्सागारेणं पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं साहु-वयणेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि॥

शब्दार्थ—**उग्गयसूरे**—(मैं) सूर्य के उदित होने पर, **पोरिसिं**—एक प्रहर के लिए, **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूं, **चउव्विहंपि**—चारों प्रकार के, **आहारं**—आहार का (जैसे कि), **असणं**—रोटी, चावल आदि पदार्थों का, **पाणं**—सभी पेय पदार्थों का, **खाइमं**—बादाम-पिस्ता आदि तथा अन्य फलों का, **साइमं**—लौंग, इलायची, सुपारी आदि पदार्थों का। **अन्नत्थऽणाभोगेणं**—प्रत्याख्यान की विस्मृति के कारण कुछ खा लेने पर, **सहस्सागारेणं**—अचानक कोई पदार्थ मुंह में पड़ जाने के कारण, **पच्छन्नकालेणं**—व्रत-काल की पूर्णता का भ्रम हो जाने पर, **दिसामोहेणं**—दिशा भ्रम हो जाने के कारण, **साहुवयणेणं**—किसी साधु द्वारा पोरसी की पूर्णता कह देने पर, **सव्वसमाहि-वत्तियागारेणं**—सब प्रकार की समाधि अर्थात् शारीरिक कुशलता होने पर ही, **वोसिरामि**—चतुर्विध आहार का त्याग करता हूं।

(शब्दार्थ द्वारा सरलार्थ स्पष्ट है)

भावार्थ—'**पोरिसी**' शब्द का संस्कृत रूप है '**पौरुषी**' जिसका अर्थ है 'पुरुष के शरीर प्रमाण छाया'। एक प्रहर दिन चढ़ने पर पुरुष की छाया उसके शरीर की लम्बाई के बराबर हो जाती है, इस तथ्य को ध्यान में रख कर इस काल को भी 'पौरुषी' कहा जाने लगा है। पौरुषी काल तक अर्थात् एक प्रहर प्रमाण वाले प्रत्याख्यान को भी लक्षणा से 'पौरुषी' कहा

जाता है। यहां पुरुष शब्द व्यक्ति वाचक है, अतः इससे स्त्री-शरीर का भी ग्रहण हो जाता है।

इस प्रत्याख्यान के छह आगार हैं। जैसे कि–

1. **अन्नत्थ-अनाभोग** – प्रत्याख्यान की विस्मृति में कुछ खा लेना।
2. **सहसाकार** – अनायास ही मुख में कुछ पड़ जाना।
3. **प्रच्छन्नकाल** – बादलों आदि के छा जाने पर काल का ज्ञान न हो पाने की दशा में प्रत्याख्यान-काल की पूर्णता समझ कर कुछ खा लेना।
4. **दिशा-मोह** – दिशा-भ्रम के कारण प्रत्याख्यान की पूर्णता न होने पर भी उसे पूर्ण समझ कर आहार-पानी ग्रहण कर लेना।
5. **साधु-वचन** – किसी साधु पुरुष के द्वारा पौरुषी-काल की पूर्णता कह देने पर आहार-पानी ग्रहण कर लेना।
6. **सर्व-समाधि-प्रत्ययाकार** – सहसा शरीर के अत्यधिक अस्वस्थ हो जाने पर स्वास्थ्य-लाभ की दृष्टि से औषधि ले लेने पर।

इन छह दशाओं को छोड़कर शेष सभी रूपों में साधक को दृढ़ता पूर्वक प्रत्याख्यान की प्रतिज्ञा का पालन करना चाहिये।

3. सार्ध पौरुषी प्रत्याख्यान

उग्गयसूरे साड्ढपोरिसिं पच्चक्खामि, चउव्विहंपि आहारं-असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसा-मोहेणं, साहु-वयणेणं, सव्व-समाहिव-त्तियागारेणं, वोसिरामि।

विशेष–प्रस्तुत पाठ द्वितीय प्रत्याख्यान के समान ही है, केवल '**पोरिसिं**' के स्थान पर '**साड्ढपोरिसिं**' अर्थात् डेढ़ पहर पढ़ना होता है, शेष पूर्ववत् ही है।

4. पूर्वार्ध (पुरिमड्ढ) प्रत्याख्यान–सूत्र

उग्गयसूरे पुरिमड्ढं पच्चक्खामि चउव्विहंपि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, वोसिरामि।

विशेष–यह प्रत्याख्यान भी पूर्ववत् है। केवल '**पोरिसिं**' के स्थान पर '**पुरिमड्ढ**' अर्थात् दिन के पूर्वार्ध (दो प्रहर) के लिये प्रत्याख्यान किया जाता है।

5. निर्विकृतिक प्रत्याख्यान सूत्र

विगइओ पच्चक्खामि, अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, गिहत्थ-संसट्ठेणं, उक्खित्त-विवेगेणं, पडुच्च-मक्खिएणं, पारिठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमा-हिवत्तियागारेणं, वोसिरामि।

शब्दार्थ–**विगइओ**–विकृतिक अर्थात् मन को विचलित करने वाले घी, तेल, दूध, दही, मक्खन आदि पदार्थों का, **पच्चक्खामि**–मैं प्रत्याख्यान करता हूं, **अन्नत्थऽणाभोगेणं**–प्रत्याख्यान का ध्यान न रहने पर कोई पदार्थ मुंह में पड़ जाने पर, **सहसागारेणं**–अचानक किसी पदार्थ के मुंह में डाल लेने पर, **लेवालेवेणं**–यदि किसी पदार्थ पर घी-मक्खन आदि डालकर उसे तुरन्त हटा लिया गया हो अतः खाद्य पदार्थ लेप होते हुए भी अलिप्त-सा लग रहा हो, उसको खा लेने पर। **गिहत्थ-संसट्ठेणं**–शुष्क भोजन देते समय गृहस्थ का पात्र विगयों के लेप से युक्त हो तो उस स्वल्पातिस्वल्प-विगययुक्त पदार्थ खा लेने पर, **उक्खित्त-विवेगेणं**–शुष्क पदार्थ पर रखे हुए शुष्क विगय पदार्थ को विवेक-पूर्वक हटा लिया गया हो तो उस पदार्थ को खा लेने पर, **पडुच्च-मक्खिएणं**–जो पदार्थ घृतादि से चुपड़ा हुआ होने पर भी चुपड़ा हुआ-सा प्रतीत न होता हो, उसे खा लेने पर, **पारिठावणियागारेणं**–साधु द्वारा गृहीत पदार्थ अधिक होने की दशा में उसे

गुरुजनों की आज्ञा से ग्रहण कर लेने पर, **महत्तरागारेणं**—किसी महान् कार्य की अपेक्षा से विगय पदार्थ ले लेने पर, **सव्वसमाहिवत्तियागारेणं**—सब प्रकार से शारीरिक कुशलता होने पर (अर्थात् अत्यधिक अस्वस्थता की दशा में किसी विगय के लेने की अनिवार्यता में, इन आगारों से युक्त हो कर ही मैं, **वोसिरामि**—विगयों का परित्याग करता हूं।

भावार्थ—प्रस्तुत सूत्र पाठ द्वारा विगयों के परित्याग की प्रतिज्ञा की जाती है। यदि सब विगयों का परित्याग न करके किसी खास पदार्थ का ही त्याग करना हो तो '**विगइओ**' के साथ उसका नाम भी लेना चाहिये, जैसे केवल दूध का परित्याग करना हो तो '**दुद्ध-विगइयो पच्चक्खामि**' पढ़ना चाहिये।

दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, गुड़ और मधु आदि पौष्टिक पदार्थों को 'विगय' कहा जाता है। पौष्टिक पदार्थों के खाने से शारीरिक बल अवश्य बढ़ता है, किन्तु आध्यात्मिक बल नहीं बढ़ता, क्योंकि शारीरिक शक्ति ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में जैसे-तैसे बाधक बन जाती है, अतः साधु को अपनी साधना की सुरक्षा के लिए समय-समय पर सुविधानुसार विगयों का परित्याग करते रहना चाहिये।

इस प्रत्याख्यान के इसलिये नौ आगार रख लिये जाते हैं, क्योंकि समय-समय पर ऐसी परिस्थितियां बन जाती हैं जिनमें पूर्णरूपेण विगय-परित्याग की प्रतिज्ञा का निभाना कठिन हो जाता है।

नौ आगारों में से 'अन्यत्र-अनाभोग और सहसागार का विवेचन पूर्व पाठों में हो चुका है, शेष शब्दार्थ से स्पष्ट हैं, फिर भी विशेष स्पष्टता के लिये कुछ विवरण नीचे दिया जा रहा है। यह सब आगार आपवादिक स्थिति के ही समझने चाहियें।

लेवालेवेणं—यदि किसी पदार्थ पर पहले घी, मक्खन-मलाई, तेल या मधु डाल दिया गया है तो वह पदार्थ लेप युक्त हो जाएगा, परन्तु पच्चक्खाण का ध्यान आते ही उस पदार्थ को तुरन्त वहां से हटा लिया गया, तब वह 'अलेप पदार्थ' बन जाता है। ऐसे ही पदार्थों के लिये 'लेपालेप' शब्द

का प्रयोग किया जाता है। ऐसा पदार्थ खाने पर विगय-परित्याग का व्रत भंग नहीं होता।

गिहत्थ-संसट्ठेणं-(गृहस्थ-संसृष्टेन)–यदि किसी गृहस्थ द्वारा रूखा भोजन ऐसे पात्र में डालकर दे दिया गया है, जिसमें घी, तेल आदि की चिकनाई लगी हुई है तो ऐसी दशा में विगय का कुछ स्वल्प-सा अंश रूक्ष भोज्य पदार्थ में रह सकता है, उस पदार्थ के खाने से विगय-परित्याग का व्रत भंग नहीं होता है।

उक्खित्तविवेगेणं–जब साधु भिक्षा लाते हैं तो पात्रों में रखे रूक्ष भोज्य पदार्थों के साथ गुड़, पक्वान्न आदि का स्पर्श हो जाता है। जब साधु पात्रों से भोज्य पदार्थ निकालते हैं, तब वे यदि विवेक पूर्वक–यतना से विगय पदार्थ के साथ स्पृष्ट या उसके ऊपर रखे हुए पदार्थ को हटा देते हैं तो आपवादिक स्थिति में ऐसा रूक्ष पदार्थ विगय-परित्यागी के लिये ग्राह्य माना जाता है, अतः उसका आगार रखा गया है।

पडुच्च-मक्खिएणं (प्रतीत्य-म्रक्षितेन)–ऐसे रोटी आदि पदार्थ जिन पर घी चुपड़ दिया गया हो, परन्तु फिर यतना पूर्वक उस घी के अंश को हटा दिया गया हो, जैसे कि एक रोटी को चुपड़ दिया गया है, फिर उस रोटी के साथ अन्य अनेक रूखी रोटियां रगड़ कर उस रोटी को रूखी जैसा बना दिया गया हो तो वे रोटियां चुपड़ी होने पर भी चुपड़ी हुई प्रतीत नहीं होतीं। ऐसे भक्ष्य पदार्थों को "प्रतीत्य-म्रक्षित" कहा जाता है। परिस्थिति वश ऐसे पदार्थ खा लेने पर विगय-परित्याग रूप व्रत भंग नहीं होता। कुछ आचार्य 'बहुत मामूली चुपड़ी रोटी को भी "प्रतीत्य म्रक्षित" कहते हैं– **(ईषत्सौकुमार्य-प्रतिपादनाय यदंगुल्या ईषद् घृतं गृहीत्वा म्रक्षति तदा कल्पते–तिलकाचार्यः)**।

पारिठावणियागारेणं (परिष्ठापनिकाकारेणं)–इसका भाव यह है कि यदि साधु भिक्षा में अधिक भोज्य पदार्थ ले आएं, अतः सब को दे देने के बाद यदि भोजन बच जाता है तो वह अवशिष्ट परिष्ठापनीय भोजन कहलाता है, यदि कारणवशात् विगय-परित्यागव्रती को रूक्ष भोजन के अभाव में

बड़े सन्त वह बचा हुआ भोजन दे देते हैं, ऐसी दशा में उस भोजन को खा लेने से उसका विगय-परित्याग रूप व्रत भंग नहीं होता। इससे अन्न की रक्षा होती है, गुरुजनों की आज्ञा का पालन होता है और उस भोजन को कहीं गिरा देने से होने वाली जीव-हिंसा रूप पाप भी नहीं लगता है।

महत्तरागारेणं (महत्तराकारेणं)–यदि विगय-व्रती साधु को गुरुजनों के आदेश से संघहित, साधु-वैयावृत्य आदि किसी महान् कारण से विगय-परित्याग का व्रत लेकर भी परिस्थिति वश स्वल्प-विगय वाले पदार्थ खा लेने पड़ें तो भी उसका व्रत भंग नहीं होता, क्योंकि '**महत्तरागारेणं**' शब्दों द्वारा वह पहले ही यह आगार रख लेता है।

"**सव्व-समाहिवत्तियागारेणं**" का भाव भी पूर्व पाठों में स्पष्ट किया जा चुका है।

6. एकासन युक्त विगय–प्रत्याख्यान

उग्गयसूरे निविगइ एकासणं पच्चक्खामि, तिविहंपि आहारं–असणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, गिहत्थसंसट्ठेणं, उक्खित्त-विवेगेणं, पडुच्च-मक्खिएणं, पारिठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्ति-आगारेणं वोसिरामि।

(शब्दार्थ पूर्व सूत्रों के समान ही है)

सरलार्थ–मैं सूर्योदय से लेकर निर्विकृतिक अर्थात् विगय-परित्याग-युक्त एकासन पूर्वक तीनों प्रकार के अर्थात् प्रासुक जल को छोड़कर शेष अशन, खादिम और स्वादिम रूप आहार का परित्याग करता हूं, इस व्रत में मैं निम्नलिखित आगार रख कर प्रत्याख्यान कर रहा हूं–बिना उपयोग के खा लेने पर, सहसा कुछ भक्ष्य पदार्थ मुंह में डाल लेने पर, घृतादि का लेप होने पर भी अलिप्त पदार्थ प्रतीत होने पर, गृहस्थ के दान-पात्र में विगय-अंश होने पर, शुष्क पदार्थों पर रखे हुए शुष्क विगय पदार्थों को विवेक पूर्वक हटा लेने पर, चुपड़ा होने पर भी चुपड़ा हुआ न प्रतीत

होने पर, अथवा स्वल्पातिस्वल्प चुपड़ा होने पर, साधु द्वारा भिक्षा में गृहीत पदार्थ के अधिक होने से उसको ग्रहण कर लेने पर और किसी भी प्रकार से शारीरिक अस्वस्थता होने पर औषधि के रूप में विगय ग्रहण करने पर (मेरा व्रत भंग न होगा) यह समझते हुए मैं तीन आहार का परित्याग करता हूं।'

भावार्थ–प्रस्तुत सूत्र के अन्य सभी पदों का भाव पूर्व सूत्र में स्पष्ट हो चुका है। प्रस्तुत सूत्र का विशेष शब्द है 'एकासन'। एकासन से अभिप्राय है एक ही आसन पर बैठकर आठ प्रहर (चौबीस घण्टों) में केवल एक बार ही भोजन करना। इसमें अंग-संचालन हो सकता है, परन्तु भोजनान्त तक वहां से उठा नहीं जाता।

कुछ आचार्य 'एकासन' का अर्थ 'एकाशन' करते है, अर्थात् केवल प्रासुक जल का ग्रहण, शेष तीन का परित्याग, किन्तु अशन शब्द का अर्थ 'पान' नहीं हो सकता, अतः 'एक ही बार बैठकर खाना' यही इसका अर्थ युक्ति-युक्त प्रतीत होता है।

7. एकासन प्रत्याख्यान–सूत्र

उग्गयसूरे एगासणं पच्चक्खामि, तिविहंपि आहारं असणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं, आउट्टणपसारेणं, गुरुअब्भुट्ठाणेणं, पारिठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

शब्दार्थ–**उग्गयसूरे**–सूर्योदय के अनंतर, **एगासणं**–एकासन तप के लिए, **पच्चक्खामि**–प्रत्याख्यान करता हूं, **तिविहं पि**–तीन प्रकार के, **आहारं**–आहार का (जैसे कि), **असणं**–अन्नमय पदार्थों का, **खाइमं**–मेवा-फल मिष्ठान्न आदि का, **साइमं**–लौंग-इलायची, चूरन, चटनी आदि का (परन्तु निम्नलिखित आगार रखकर), **अन्नत्थऽणाभोगेणं**–प्रत्याख्यान की विस्मृति के कारण मुख में कुछ डाल लेने पर, **सहसागारेणं**–अचानक मुंह में कुछ पड़ जाने पर, **सागारियागारेणं**–किसी गृहस्थ के आ जाने पर (उठकर अन्यत्र भोजन करने पर), **आउट्टण-पसारेणं**–

भोजन करते समय शरीर के अंगों को सिकोड़ने या फैलाने पर, **गुरुअब्भुट्ठाणेणं**–गुरुजनों के आगमन पर उनके सत्कारार्थ उठने पर, **पारिठावणियागारेणं**–भिक्षा में आवश्यकता से अधिक प्राप्त पदार्थ को (फैंकने की अपेक्षा उस पदार्थ का प्रत्याख्यान होने पर भी खा लेने पर), **सव्वसमाहिवत्तियागारेणं**–शारीरिक स्वस्थता के लिए (रोगादि की निवृत्ति के लिए औषधि के रूप में प्रत्याख्यान किए हुए पदार्थ के खा लेने पर भी मेरा व्रत भंग न होगा), **वोसिरामि**–इन आठ आगारों सहित तीन प्रकार के आहार का त्याग करता हूं।

(सरलार्थ शब्दार्थ द्वारा ही स्पष्ट है।)

भावार्थ–प्रस्तुत सूत्र के '**एगासणं**' शब्द के दो अर्थ हैं–एकाशन अर्थात् दिन में एक बार खाने का व्रत ग्रहण करना जिसे 'एकाशना' कहा जाता है। दूसरा अर्थ है–एक ही स्थान पर बैठ कर बीच में बिना उठे भोजन करना। एकाशन-व्रती को भेजन करते समय बीच में उठना नहीं चाहिये। '**एगासणं**' शब्द के ये दोनों ही अर्थ यहां अभीष्ट हैं।

इस व्रत के आठ आगारों में से प्रथम, द्वितीय, षष्ट, सप्तम और अष्टम आगारों की व्याख्या एवं भाव पूर्व सूत्रों में स्पष्ट किये जा चुके हैं। शेष आगारों का संक्षिप्त भाव इस प्रकार है–

सागारियागारेणं–सागारिक शब्द का अर्थ है गृहस्थ। साधु को गृहस्थ के सामने भोजन नहीं करना चाहिये, अतः परिस्थितिवश यदि साधु-साध्वी को गृहस्थ के आ जाने पर एक स्थान पर बैठ कर ही भोजन करने की प्रतिज्ञा करके भी यदि उठना पड़ जाय तो इस से एकाशन-व्रती साधु-साध्वी का व्रत भंग नहीं होता।

यह सूत्र एकाशन-व्रती गृहस्थ भी पढ़ता है, अतः गृहस्थ पक्ष में सागारिक शब्द का अर्थ ऐसा व्यक्ति होता है जो स्वभावतः क्रोधी, लम्पट एवं अन्य अवगुणों से युक्त हो। ऐसे व्यक्ति के आने पर एकासन व्रती गृहस्थ एकासन की प्रतिज्ञा होते हुए भी अन्यत्र जाकर भोजन कर सकता है, इससे उसका व्रत भंग नहीं होता।

आउंटण-पसारणेणं–(आकुंचन-प्रसारणेन)–एकाशना व्रती साधक भोजन करते समय हाथ-पैर आदि अंगों को हिला-चला कर यदि अवस्थान- स्थिति को बदल लेता है तो उसका व्रत भंग नहीं होता, परन्तु उसे उस स्थान से उठना नहीं चाहिये।

गुरु-अब्भुट्ठाणेणं–(गुर्वभ्युत्थानेन)–गुरु जनों–पूज्य जनों के आ जाने पर यदि एकासन व्रती साधक उनके सम्मानार्थ उठ कर खड़ा हो जाता है तो भी उसका व्रत-भंग नहीं होता।

प्रस्तुत सूत्र को यदि गृहस्थ पढ़े तो उसे **'पारिट्ठावणियागारेणं'** यह पाठ नहीं पढ़ना चाहिये, क्योंकि उसके लिये यह आगार विहित नहीं है।

8. एक स्थान–प्रत्याख्यान–सूत्र

उग्गयसूरे एगलठाणं पच्चक्खामि, तिविहंपि आहारं-असणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारिया-गारेणं, गुरुअब्भुट्ठाणेणं, पारिठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

(शब्दार्थ पूर्व सूत्रों के समान ही है)

सरलार्थ–सूर्योदय होने पर मैं एक स्थान पर बैठ कर किये जाने वाले एकासना व्रत के लिये प्रत्याख्यान करता हूं, तीन प्रकार के आहार अशन, खादिम और स्वादिम का, (किन्तु निम्नलिखित आगारों के साथ), प्रत्याख्यान की विस्मृति के कारण मुख में कुछ डाल लेने पर, अचानक मुंह में कुछ पड़ जाने पर, किसी गृहस्थ के आ जाने से उठकर अन्यत्र भोजन करने पर, गुरुजनों के आगमन पर उन के सत्कारार्थ उठने पर, भिक्षा में आवश्यकता से अधिक प्राप्त पदार्थ को (फैंकने की अपेक्षा उस पदार्थ का प्रत्याख्यान होने पर भी उसे गुरुजनों की आज्ञा से) खा लेने पर, शारीरिक स्वस्थता के लिये (रोगादि की दशा में प्रत्याख्यान किए हुए पदार्थों के खा लेने पर), इन सात आगारों सहित तीन प्रकार के आहार का परित्याग करता हूं।

भावार्थ–एक स्थान-प्रत्याख्यान और एकासना व्रत दोनों में यह अन्तर है कि इसमें शरीर के अंगों का हिलाना-डुलाना निषिद्ध है, केवल दाहिने हाथ और मुख को ही भोजनार्थ हिलाया-डुलाया जा सकता है, शेष अंगों की स्थिति भोजनान्त तक वही रहनी चाहिए जिस शरीर-स्थिति में भोजन आरम्भ किया हो। इसीलिये इस सूत्र में '**आउंटण-पसारणेणं**' का आगार नहीं रखा गया।

इस व्रत से जहां शारीरिक साधना होती है, वहां मानसिक साधना भी स्वतः ही सम्पन्न हो जाती है, क्योंकि साधक का ध्यान अन्यत्र न जाकर इस व्रत की पूर्णता के लिये ही एकाग्र रहता है।

9. आयम्बिल प्रत्याख्यान–सूत्र

उग्गयसूरे आंबिलं पच्चक्खामि, तिविहंपि आहारं–असणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, गिहत्थ-संसट्ठेणं, उक्खित्त-विवेगेणं, पारिठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, पाणस्स, लेवेण वा, अलेवेण वा, अच्छेण वा, बहुलेवेण वा, ससित्थेण वा, असित्थेण वा वोसिरामि।

शब्दार्थ–उग्गयसूरे–सूर्योदय होने पर, **आंबिलं**–आयम्बिल व्रत की पूर्ति के लिए, **पच्चक्खामि**–प्रत्याख्यान करता हूं, **तिविहंपि**–तीन प्रकार के, **असणं**–अन्न निर्मित पदार्थों का, **खाइमं**–मेवों एवं फलों आदि का, **साइमं**–चूरन, चटनी, लौंग, सुपारी आदि का, परन्तु निम्नलिखित आगार रखकर जैसे कि–**अन्नत्थऽणाभोगेणं**–प्रत्याख्यान की विस्मृति के कारण मुख में कुछ डाल लेने पर, **सहसागारेणं**–अचानक मुख में कुछ पड़ जाने पर, **लेवालेवेणं**–घृतादि से लिप्त हुए पदार्थ के अलिप्त-सा प्रतीत होने की दशा में उसको खा लेने पर, **गिहत्थ-संसट्ठेणं**–गृहस्थ के पात्रों की चिकनाई के कारण स्वल्प चिकने पदार्थ खा लेने पर, **उक्खित्तविवेगेणं**–शुष्क गुड़ आदि पदार्थों पर रखे हुए शुष्क चने आदि को विवेकपूर्वक हटा लेने पर भी (यदि विगय का स्वल्पांश उसमें रह गया हो उस अन्न को

खा लेने पर), **पारिठावणियागारेणं**–साधु द्वारा गृहीत पदार्थ अधिक होने की दशा में उसे गुरुजनों की आज्ञा से ग्रहण कर लेने पर, **महत्तरागारेणं**–किसी महान् कार्य की पूर्ति के लिए गुरुजनों की आज्ञा से विगय पदार्थ ग्रहण कर लेने पर, **सव्वसमाहिवत्तियागारेणं**–सब प्रकार से शारीरिक कुशलता होने पर (अर्थात् अत्यधिक अस्वस्थता की दशा में विगय युक्त औषधि आदि लेने पर), **पाणस्स**–जल की अपेक्षा से, **लेवेण वा**–पात्र में लेप कारक खजूर, द्राक्षा आदि का पानी अथवा, **अलेवेण वा**–पात्र में जिसका लेप शेष न रह जाता हो जैसे धोवन का पानी अथवा, **अच्छेण वा**–शुद्ध प्रासुक जल, अथवा, **बहुलेवेण वा**–अधिक मात्रा में पात्र के साथ लगने वाला जल जैसे चावल, जौ आदि का मांड, अथवा, **ससित्थेण वा**–जिस जल में आटा आदि के कणों का कुछ भाग शेष रह गया हो, ऐसा जल, अथवा, **असित्थेण वा**–आटे आदि के कणों वाले जल को नितार कर या छानकर रखा हुआ जल (इन जलों को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के जल का), **वोसिरामि**–मैं त्याग करता हूं।

(सरलार्थ शब्दार्थ द्वारा ही स्पष्ट है)

भावार्थ–मूल पाठ में कहा गया है '**आंबिलं पच्चक्खामि**'–इसका अभिप्राय यह है कि 'मैं आठ प्रहर अर्थात् आगामी 24 घंटों में केवल एक बार रस-हीन अन्न ग्रहण कर व्रत रखने के लिये अन्य-अन्नों का परित्याग करता हूं–इसलिये '**असणं.........वोसिरामि**' का अर्थ है–रूक्ष रस-हीन अन्न के अतिरिक्त सभी अन्नों एवं अन्न-निर्मित पदार्थों का त्याग करता हूं।

आयम्बिल व्रत में '**पान**' का त्याग नहीं होता, किन्तु ग्रहण किये जाने वाले पान-जल के लिये भी सूत्र निर्दिष्ट 6 प्रकार के जलों के अतिरिक्त अन्य जल रूपों का परित्याग किया जाता है।

10. उपवास (चउविहार) सूत्र

उग्गयसूरे अभत्तट्ठं पच्चक्खामि, चउविहंपि आहारं–असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं,

पारिठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्ति-आगारेणं वोसिरामि।

(शब्दार्थ पूर्व सूत्रवत्)

सरलार्थ–मैं सूर्योदय से लेकर अभक्तार्थ अर्थात् उपवास रखने के लिये प्रत्याख्यान करता हूं, चार प्रकार के आहार का–अशन, पान, खादिम और स्वादिम का। प्रत्याख्यान की विस्मृति के कारण कुछ मुख में डाल लेने पर, अचानक मुख में कुछ पड़ जाने पर, साधु द्वारा लाई हुई भिक्षा में आवश्यकता से अधिक भोज्य पदार्थ आने पर उनको गुरुजनों की आज्ञा से खा लेने पर, किसी महान् संघ-कार्य के लिये गुरुजनों की आज्ञा से कुछ भोजन कर लेने पर और शारीरिक अस्वास्थ्य की दशा में (अर्थात् रोगादि में औषधि आदि खा लेने पर–मेरा व्रत भंग न होगा–इन आगारों से युक्त सब प्रकार के आहारों का त्याग करता हूं।

भावार्थ–प्रस्तुत सूत्र में **'अभत्तट्ठं'** पाठ है जिसका संस्कृत रूपान्तर है **'अभक्तार्थ'** और इसका अर्थ है जिसमें भोजन का प्रयोजन नहीं रहता अर्थात् उपवास।

यदि उपवास से पहले दिन और आगामी दिवस में भी एकाशना करनी हो तो **'अभत्तट्ठं'** के स्थान पर **'चउत्थभत्तं अभत्तट्ठं'** पाठ पढ़ना चाहिये।

11. तिविहार उपवास सूत्र

उग्गयसूरे अभत्तट्ठं पच्चक्खामि, तिविहंपि आहारं–असणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, पारिट्ठा-वणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्व-समाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

(शब्दार्थ पूर्व सूत्रवत्)

सरलार्थ–सूर्योदय होने पर मैं उपवास के लिये प्रत्याख्यान करता हूं–तीन प्रकार के आहार का–अशन, खादिम और स्वादिम का, (किन्तु

निम्नलिखित आगार रख कर) प्रत्याख्यान की विस्मृति के कारण कुछ खा लेने पर, अचानक कोई भोज्य पदार्थ मुख में पड़ जाने पर, साधु द्वारा आवश्यकता से अधिक भिक्षान्न आने की दशा में गुरुजनों की आज्ञा से उसे खा लेने पर, किसी महान् संघ कार्य या साधना-कार्य की पूर्ति के लिये कुछ खा लेने पर, शारीरिक कुशलता की दशा में अर्थात् रोगावस्था में आवश्यक औषधि आदि खा लेने पर, मेरा व्रत भंग न होगा-इन आगारों के अतिरिक्त शेष त्रिविधाहार का त्याग करता हूं।

12. पानाहार पौरुषी-प्रत्याख्यान सूत्र

उग्गयसूरे पाणाहार-पोरिसिं पच्चक्खामि, अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, पाणस्स लेवेण वा, अलेवेण वा, अच्छेण वा, बहुलेवेण वा, संसित्थेण वा, असित्थेण वा वोसिरामि।

(शब्दार्थ पूर्व सूत्रवत्)

सरलार्थ-सूर्योदय होने पर मैं (तिविहार उपवास के साथ) पौरुषी (पोरसी) अर्थात् एक प्रहर के लिये जल का प्रत्याख्यान करता हूं, (किन्तु निम्नलिखित आगारों के साथ) प्रत्याख्यान की विस्मृति के कारण जल पी लेने पर, अचानक मुख में जल की बूंदें पड़ जाने पर, बादलों आदि के छा जाने पर, काल का ज्ञान न होने की दशा में प्रत्याख्यान की पूर्णता समझ कर जल पी लेने पर, दिशाभ्रम के कारण प्रत्याख्यान की पूर्णता न होने पर भी उसे पूर्ण समझकर जल पी लेने पर, किसी साधु पुरुष के द्वारा प्रत्याख्यान-काल की पूर्णता कह देने पर, सहसा शारीरिक अस्वस्थता के कारण जलीय औषधि ले लेने पर और जल की अपेक्षा से पात्र में लेपकारक खजूर, द्राक्षा आदि का पानी, पात्र में जिसका लेप शेष न रह जाए ऐसा धोवन का पानी ले लेने पर, शुद्ध प्रासुक जल ले लेने पर, अधिक मात्रा में पात्र के साथ लगने वाले जल जैसे चावल, जौ आदि का मांड लेने पर, आटा आदि के कणों से युक्त जल लेने पर, आटे के धोवन

का पानी छान कर या नितार कर उसे ग्रहण करने पर (इन उपर्युक्त-जलों को छोड़ कर शेष जलों का परित्याग करता हूं।

विशेष–दो प्रहर के लिये जल का त्याग करने की भी भावना होने पर '**पोरिसी**' पाठ पढ़ना चाहिये। यदि तीन प्रहर तक जल न ग्रहण करने की भावना हो तो '**तिपोरिसि**' पढ़ना चाहिये।

कुछ आचार्य जल में केवल प्रासुक जल ही बतलाते हैं, शेष आगार स्वीकार नहीं करते।

13. दिवस–चरिम (चतुर्विध आहार) प्रत्याख्यान–सूत्र

दिवसचरिमं पच्चक्खामि, चउव्विहंपि आहारं–असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

सरलार्थ–दिन के चतुर्थ भाग में (सूर्यास्त होने तक) मैं चतुर्विध आहार का–अशन, पान, खादिम और स्वादिम का प्रत्याख्यान करता हूं (किन्तु निम्नलिखित आगार रख कर) प्रत्याख्यान की विस्मृति में मुख में कुछ डाल लेने पर, अचानक मुंह में कुछ खाद्य या पानीय पदार्थ पड़ जाने पर, किसी महान् संघ-कार्य के सम्पादन के लिये गुरुजनों की आज्ञा से कुछ खा लेने पर और शारीरिक अस्वस्थता के अतिरिक्त शेष चतुर्विध आहार का त्याग करता हूं।

भावार्थ–'चरिम' शब्द का अर्थ है 'अन्तिम', अतः दिवस-चरिम का अर्थ है दिन का अन्तिम भाग अर्थात् चौथा प्रहर। सूर्यास्त से पूर्व जो आहार-पानी ग्रहण करना हो, उसे ग्रहण करने के अनन्तर इस पाठ के साथ रात्रि आरम्भ होने तक के काल के लिये चतुर्विध आहार का परित्याग किया जाता है। रात्रि का चौविहार तो साधु के लिये सार्वकालिक ही होता है।

14. अभिग्रह–सूत्र

उग्गयसूरे गंट्ठिसहियं अभिग्गहं (अहवा मुट्ठिसहियं अभिग्गहं) पच्चक्खामि, चउव्विहंपि आहारं–असणं, पाणं, खाइमं,

साइमं। अन्नत्थऽऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्व-समाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

(शब्दार्थ और सरलार्थ पूर्व सूत्रों के समान)

भावार्थ–अभिग्रह जैन संस्कृति का अपना विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है–'किसी विशिष्ट परिस्थिति अथवा पदार्थों के मिलने पर ही अन्न-जल आदि ग्रहण करूंगा'–ऐसी प्रतिज्ञा। यह प्रतिज्ञा उपवासादि के बिना भी की जा सकती है।

प्रस्तुत सूत्र में उदाहरण के रूप में दो सामान्य से अभिग्रह प्रदर्शित किए गए हैं–

1. **गंट्ठिसहियं अभिग्गहं**–इस में साधक किसी डोरे में या कपड़े में गांठ बांध कर प्रतिज्ञा करता है कि जब तक यह गांठ न खोलूंगा तब तक के लिये चतुर्विध आहार का परित्याग करता हूं।
2. **मुट्ठिसहियं अभिग्गहं**–इस अभिग्रह में साधक अपनी मुट्ठी बंद कर लेता है और प्रतिज्ञा करता है कि जब तक मैं मुट्ठी नहीं खोलूंगा, तब तक के लिये चतुर्विध आहार का परित्याग करता हूं।

भगवान् महावीर का 13 अभिग्रहों वाला वह अभिग्रह बहुत प्रसिद्ध है जिसकी पूर्ति चन्दनबाला द्वारा आहार देने पर हुई थी।

साधक को अभिग्रह बहुत विवेक के साथ परिस्थितियों के अनुकूल धारण करना चाहिये और यह भी ध्यान रखा जाय कि अभिग्रह पूर्ण होने से पहले वह किसी के सामने प्रकट न किया जाये।

15. देशावकाशिक अभिग्रह सूत्र

देसावगासियं उवभोगं परिभोगं पच्चक्खामि, अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं वोसिरामि।

सरलार्थ–मुझे देशावकाशिक व्रत का परिमाण करना है, (अतः), मैं एक बार भोगने योग्य और पुनः-पुनः भोगने योग्य (वस्त्र-पात्र आदि) पदार्थों

का प्रत्याख्यान करता हूं, किन्तु निम्नलिखित आगारों के साथ- प्रत्याख्यान की विस्मृति में अचानक ही त्यक्त पदार्थ को ग्रहण कर लेने पर अथवा किसी महान कार्य की पूर्ति के लिये गुरुजनों की आज्ञा से कुछ ग्रहण कर लेने पर (मेरा व्रत भंग न होगा)। इन आगारों के साथ परिमाणीकृत वस्तुओं का त्याग करता हूं।

भावार्थ–देशावकाशिक व्रत केवल गृहस्थों का है, साधु-साध्वी का नहीं।

गृहस्थ को नित्यप्रति तृष्णा का निरोध करते हुए यथा-शक्ति सचित्त पदार्थों (पृथ्वी आदि), द्रव्य (दुग्ध, खांड आदि), जूतों, पान, वस्त्रों, पुष्पों, वाहनों, शय्या आदि, विलेपन (चन्दन आदि), ब्रह्मचर्य, दिशा, स्नान आदि का आवश्यकता से भी कम से कम परिमाण करना चाहिये, इसी को देशावकाशिक-व्रत कहा जाता है।

यदि गुरुजन प्रत्याख्यान करायें तो '**पच्चक्खामि**'–के स्थान पर '**पच्चक्खइ**' और '**वोसिरामि**' के स्थान पर '**वोसिरइ**' पाठ पढ़ें।

16. अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना–सूत्र

विधि–अपच्छिम-मारणन्तिय-संलेहणा समए पोसहसालं पडिलेहित्ता, पोसहसालं पमज्जित्ता, उच्चार-पासवण-भूमिं पडिलेहित्ता, गमणागमणं पडिक्कमित्ता, दब्भ-संथारं संथारित्ता दुरूहित्ता य उत्तरपुरत्थिम-दिसाभिमुहे संपलियंकाइ आसणे निसीइत्ता, करयल-परिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वएज्जा–

अर्थात् अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना के समय पौषधशाला की प्रति-लेखना करके, पौषधशाला की प्रमार्जना करके, (निकटस्थ) शौच-मूत्र आदि की भूमि की प्रतिलेखना करके, गमनागमन क्रिया का परित्याग करके, दर्भ के बिस्तर को बिछाकर, उस पर आरूढ़ होने के लिय उत्तर-पूर्व की ओर मुख करके, पर्यंक आदि आसन पर बैठकर, दोनों हाथ जोड़कर दशों अंगुलियां अर्थात् दोनों हाथ जोड़कर सिर से आवर्तन करता हुआ मस्तक

पर दोनों हाथों को अंजलि के आकार में रखकर (मारणान्तिक संलेखना करने वाला साधक) इस प्रकार कहे–

नमस्कार सूत्र

नमोऽत्थु णं अरिहंताणं, भगवन्ताणं, जाव संपत्ताणं, नमोऽत्थु णं मम धम्मायरियस्स जाव संपाविउ-कामस्स-वन्दामि णं भगवन्तं तत्थगयं इहगए पासउ मे।

शब्दार्थ–नमोऽत्थु णं–नमस्कार है, **अरिहंताणं**–अरिहन्त, **भगवन्ताणं**–भगवन्तों को, **जाव संपत्ताणं**–उन सब को जो मुक्ति को प्राप्त हो चुके हैं, **नमोऽत्थु णं**–नमस्कार हो, **मम**–मेरे, **धम्मायरियस्स**–धर्माचार्य को (और), **जाव संपाविउकामस्स**–उन सभी को जो मोक्षाभिलाषा रखते हैं, **वन्दामि णं**–और मैं नमस्कार करता हूं, **भगवन्तं**–(उन) भगवन्तों को, **तत्थगयं**–जो मोक्षधाम में निवास कर रहे हैं, **इहगए**–जो भूमि पर विद्यमान हैं, **पासउ मे**–मुझे देखिए (मुझ पर कृपा-दृष्टि कीजिये)।

आलोचना–सूत्र

तत्थगए इहगयं त्ति कट्टु वन्दित्ता एवं नमंसित्ता वइज्जा–भगवं पुव्विं मए जाणि वयाणि चिन्नाणि, ताणि आलोइत्ता पडिक्कमित्ता निंदित्ता निसल्ली होऊण सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि, सव्वं मोसावायं, सव्वं-अदिन्नादाणं, सव्वं मेहुणं, सव्वं परिग्गहं, सव्वं कोहं, जाव सव्वं मिच्छा-दंसणसल्लं, अकरणिज्जं जोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणेमि, मणसा, वयसा, कायसा, सव्वं, असणं, पाणं, खाइमं, साइमं चउव्विहंपि आहारं पच्चक्खामि, जावज्जीवाए। जं पि य इमं सरीरं इट्ठं, कंतं, पियं, मणुण्णं, मणामं, धिज्जं, विसासियं, संमयं, अणुमयं, बहुमयं, भण्ड- करण्डय-समाणं, रयण-करण्डभूयं, मा णं सीअं, मा णं उण्हं, मा णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं वाला, मा णं चोरा,

मा णं दंसा, मा णं मसगा, मा णं वाहियं, पित्तियं, संभियं, सन्निवाइयं, विविहा रोगायंका-परिसहोवसग्गा न फुसंतु, त्ति कट्टु एवं पिय णं चरिमेहिं उस्सास-निस्सासेहिं वोसिरामि, त्ति कट्टु संलेहणा झूसणाए देहं झोसित्ता कालं अणवकंखमाणे विहरामि। एवं मए सद्दहणा, परूवणा, अणसणावसरे पत्ते, अणसणे कए फासणाए सुद्धा हविज्जा, एवं अपच्छिम-मारणन्तिय-संलेहणा झूसणा आराहणाए पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा–इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीविया- संसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

शब्दार्थ–तत्थगए–मोक्षधाम में विराजमान, **इहगयं**–यहां पर विद्यमान, **त्ति कट्टु**–प्रतिज्ञा करके, **वन्दित्ता**–वन्दना करके, **नमंसित्ता**–नमस्कार करके, **एवं**–इस प्रकार, **वइज्जा**–कहे, **भगवं**–हे भगवन्, **पुव्विं**–पहले, **मए**–मैंने, **जाणि**–जितने, **वयाणि**–व्रत, **चिन्नाणि**–आचरण किए हैं, **ताणि**–उन सब की, **आलोइत्ता**–आलोचना करके, **पडिक्कमित्ता**–प्रतिक्रमण करके, **निंदित्ता**–निन्दा करके, **निसल्ली**–शल्य-मुक्त, **होऊण**–होने के लिए, **सव्वं**–सभी, **पाणाइवायं**–प्राणातिपात अर्थात् हिंसा-कर्मों का, **पच्चक्खामि**–प्रत्याख्यान करता हूं, **सव्वं**–सभी, **मोसावायं**–मृषावाद अर्थात् असत्य भाषण का, **सव्वं**–सभी, **अदिन्नादाणं**–अदत्तादान अर्थात् चौर्य-कर्मों का, **सव्वं**–सभी, **मेहुणं**–मैथुन कर्मों का, **सव्वं**–सभी, **परिग्गहं**–परिग्रह अर्थात् संचय वृत्ति का, **सव्वं कोहं**–सभी प्रकार के क्रोध का, **जाव**–जितने भी, **मिच्छादंसणसल्लं**–मिथ्यादर्शन आदि शल्य हैं, **अकरणिज्जं**–न करने योग्य, **जोगं**– इन्द्रिय-व्यापार हैं (उन सब का), **पच्चक्खामि**–प्रत्याख्यान करता हूं, **जावज्जीवाए**–जीवन-भर के लिए, **तिविहं**–तीन करण, **तिविहेणं**–तीन योगों से, **न करेमि**–न करूंगा, **न कारवेमि**–न किसी से करवाऊंगा, **करंतं पि**–और करते हुए, **अन्नं**–अन्य व्यक्ति का, **न समणुजाणेमि**–न ही अनुमोदन करूंगा। **मणसा**–मन से, **वयसा**–वचन से, **कायसा**–काया से, **सव्वं**–सभी प्रकार के, **असणं**–अन्न-निर्मित पदार्थों का, **पाणं**–पानीय पदार्थों का, **खाइमं**–अचित्त

बादाम-पिस्ता मेवों आदि का, **साइमं**—चूरन-चटनी आदि का, **चउव्विहं पि**—चारों ही प्रकार के, **आहारं**—आहार का, **पच्चक्खामि**—प्रत्याख्यान करता हूं—त्याग करता हूं, **जावज्जीवाए**—जीवन भर के लिए, **जं पि**—जो कि, **इमं सरीरं**—(मेरा) यह शरीर (मुझे), **इट्ठं**—इष्ट रहा है (अर्थात् जिसका भरण-पोषण मुझे इष्ट रहा है) **कंतं**—जिसे मैं सुन्दर मानता रहा हूं, **पियं**—जो मुझे प्रिय रहा है, **मणुण्णं**—जिसे मैं मनोज्ञ (सुन्दर) समझता रहा हूं, **मणामं**—अत्यन्त आकर्षक मानता रहा हूं, **धिज्जं**—जिसे मैं धैर्य का आधार मानता रहा हूं, **विसासियं**—जिस पर मुझे बहुत विश्वास रहा है, **संमयं**—जो मुझे सम्मत (अनुकूल) प्रतीत होता रहा है, **अणुमयं**—अनुमत अर्थात् विशेष रूप से जिसकी चेष्टाओं का मैं अनुमोदन करता रहा हूं, **बहुमयं**—जिसे मैं बहुत मानने योग्य समझता रहा हूं, **भण्ड-करण्डय-समाणं**—जिसे मैं आभूषण-मंजूषा जैसा मानता रहा हूं, **रयण-करण्ड-भूयं**—जिसे मैं रत्न-मंजूषा जैसा समझता रहा हूं, **मा णं सीअं**—इस शरीर को शीत की अनुभूति न हो, **मा णं उण्हं**—न गरमी का अनुभव हो, **मा णं खुहा**—इसे भूख न लगे, **मा णं पिवासा**—न ही इसे प्यास लगे, **मा णं वाला**—इस शरीर को सर्प स्पर्श न करें, **मा णं चोरा**—इसे चोरों का भय न हो, **मा णं दंसा**—इसे दंस आदि पीड़ित न करें, **मा णं मसगा**—इसे मच्छर न सतायें, **मा णं**—न इसे (कोई) **वाहियं**—वात-प्रकोप-वायु-व्याधि हो, **पित्तियं**—पित्त-प्रकोप, **संभियं**—कफ प्रकोप, **सन्निवाइयं**—सन्निपात-प्रकोप, **विविहा**—(इस प्रकार) विविध, **रोगायंका**—रोगों के आतंक, **परिसहोवसग्गा**—परीषह एवं उपसर्ग, **न फुसंतु**—(मेरे इस शरीर का) स्पर्श न करें, **त्ति कट्टु**—यह करके, **एवं पिय णं**—अब मैं उस अपने इस प्रिय शरीर को, **चरिमेहिं**—अन्तिम, **उस्सास-निस्सासेहिं**—श्वास-प्रश्वास तक के लिए, **वोसिरामि**—छोड़ता हूं, **त्ति कट्टु**—उपर्युक्त-प्रतिज्ञाएं करके, **संलेहणा झूसणाए**—संलेखना द्वारा कर्मों का नाश करने के लिए, **देहं**—इस शरीर को, **झोसित्ता**—(इस प्रकार) कर्म क्षय करके, **कालं**—मृत्यु की, **अणवकंखमाणे**—इच्छा न करता हुआ, **विहरामि**—(अवशिष्ट जीवन) व्यतीत करूंगा, **एवं मए**—इस प्रकार मेरी, **सद्दहणा**—श्रद्धा, **परूवणा**—प्ररूपणा है, **अणसणावसरे**—अनशन के समय, **पत्ते**—प्राप्त होने पर, **अणसणे**—अनशन, **कए**—करने पर, **फासणाए**—स्पर्शन के लिए, **सुद्धा**— शुद्ध, **हविज्जा**—होकर, **एवं**—इस प्रकार,

अपच्छिम-मारणन्तिय—अंतिम मरण-पर्यन्त, **संलेहणा**—संलेखना की, **झूसणा**—कर्मक्षय की, **आराहणाए**—आराधना करने के लिए, **पंच**—पांच, **अइयारा**—अतिचार, **जाणियव्वा**—(मेरे लिए) जानने योग्य हैं, **न समायरियव्वा**—(परन्तु मेरे द्वारा) आचरणीय नहीं हैं, **तं जहा**—जैसे कि (वे अतिचार हैं), **इहलोगासंसप्पओगे**—इस लोक में उच्चपद प्राप्त करने की अभिलाषा, **परलोगासंसप्पओगे**—परलोक में इन्द्रादि का पद पाने की अभिलाषा, **जीवियासंसप्पओगे**—यश-कीर्ति की कामना से (कुछ दिन अधिक) जीवित रहने की अभिलाषा, **मरणासंसप्पओगे**—रोगादि के कारण शीघ्र मरने की अभिलाषा, **कामभोगासंसप्पओगे**—कामभोगों की अभिलाषा (अर्थात् मरने के अनन्तर आगामी जीवन में विशिष्ट विलास-साधनों की अभिलाषा), **तस्स**—(इस संलेखना समय में यदि ऐसा कोई अतिचार हो जाए तो) वह, **मिच्छा**—मिथ्या हो, **मि दुक्कडं**—मेरा दुष्कृत (अर्थात् उस अतिचार दोष से मैं मुक्त ही रहूं।

(सरलार्थ शब्दार्थ द्वारा स्पष्ट है)

भावार्थ—पश्चिम का अर्थ है—अस्त होना और अपश्चिम का अर्थ है जिसके बाद फिर अस्त नहीं होना पड़ता। जिस मरने के बाद फिर मरण न देखना पड़े उसके लिये जो विशुद्ध क्रिया की जाती है उसे संलेखना कहा जाता है। भाव-संग्रह में संलेखना की परिभाषा करते हुए कहा है—

मित्रे कलत्रे विभवे तनूजे, सौख्ये गृहे यत्र विहाय मोहम्।
संस्मर्यते पंचपदं स्वचित्ते, संलेखना साभिहिता मुनीन्द्रैः॥

अर्थात् जब साधक शरीर रूप पर-पदार्थ को त्यागने की इच्छा से आत्माभिमुख होकर मित्रों, पत्नी-पुत्रों, धन-वैभव, सुखों और घर आदि का मोह छोड़कर अपने चित्त में केवल नवकार मन्त्र का स्मरण करता है उसे संलेखना कहा जाता है।

इसे हम साधना-जगत् में 'निर्विकार स्वेच्छा-मृत्यु' कह सकते हैं। जब जिनेन्द्र-चरणानुरागी साधक संसार ही नहीं, शरीर-मोह से भी मुक्त हो जाता है और शरीर से पृथक् होने में उसे अपना कल्याण दृष्टिगोचर होने लगता है, तब वह आत्मा को शरीर-बन्धन से मुक्त करने की तीव्र अभिलाषा द्वारा संलेखना-अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है।

संसारी लोग केवल जीने में ही आनन्द मानते हैं और इस प्रकार वे देह–दास बन कर अपने को ऐसे जाल–जंजाल में उलझा लेते हैं कि फिर वे मृत्यु को भूल कर **'जीवेम शरदः शतम्'** की आराधना में ही लीन रहने लगते हैं।

परन्तु जैन साधु आत्मज्ञान प्राप्त कर मोक्षगामी होने के लिये संलेखना रूप महोत्सव का आयोजन करता है और अपने जीवन के सन्ध्याकाल में आत्म–साक्षात्कार की अनुभूति को संलेखना की कसौटी पर परखता है और उसमें खरा उतर कर अपुनर्भवता की साधना पूर्ण कर लेता है।

वह मृत्यु को भयानक नहीं समझता है, वह तो समझता है कि मेरी आत्मा जो आवागमन के चक्र में फंसी हुई थी आज वह सर्वदा के लिये मुक्त हो रही है, अतः वह इसे हर्ष का विषय समझता है–सराय छोड़ते यात्री को, डाल छोड़ती चिड़िया को और वृक्ष की डाली से अलग होते पत्ते को जैसे कोई कष्ट नहीं होता, वैसे ही संलेखना–व्रती साधु को शरीर–त्याग का कोई कष्ट नहीं होता।

आत्म–तत्त्व से अपरिचितों को संलेखना में 'आत्महत्या' की गन्ध आने लगती है, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि आत्महत्या का मूल वेदना है–कष्ट है, ऐसा कष्ट जो शरीर को होता है, परन्तु आत्मतत्त्व से अपरिचित वह उसे आत्मा का कष्ट मान लेता है। आत्म–हत्या में नया जन्म लेने की कामना रहती है, किन्तु संलेखना–व्रती आत्मा को शरीर छोड़ने से पहले ही शरीर से अलग कर लेता है, वह शरीर के तत्त्व–विगलय की प्रवृत्ति के मुस्कराते हुए दर्शन करता है, वह संलेखना करता है किसी कष्ट, भय या वेदना से नहीं, आत्मज्ञान से, अतः वह 'आत्म–हत्या' नहीं आत्मोद्धार करता है। उसकी प्रबुद्ध आत्मा बन्धनों को तोड़ कर मुक्त होती है सदा के लिये। जैसे सूर्य उदय और अस्त दोनों वेलाओं में समान रहता है, वैसे ही संलेखनाव्रती साम्यभाव में स्थित रहता है। इतना ही नहीं वह तो यह भी सोचता है कि सूर्य को अस्त होने के बाद पुनः पूर्वदिशा के गर्भ से जन्म लेना पड़ेगा, किन्तु मैंने शरीर को छोड़ा है, पुनः किसी भी शरीर में न आने के लिये।

॥ षष्ठ आवश्यक समाप्त ॥

॥ आवश्यक सूत्र समाप्त ॥

परिशिष्ट

(प्रतिक्रमण : अनेक रूप)

प्रतिक्रमण : अनेकरूप

1. असंयम-प्रतिक्रमण

सभी प्रकार की अशुभ प्रवृत्तियां ही असंयम हैं, उनसे सर्वथा निवृत्त होना ही 'असंयम-प्रतिक्रमण' है।

2. बन्धन-प्रतिक्रमण

आत्मा और कर्मों का क्षीर-नीर-वत् एकमेक हो जाना ही बंधन है। वह राग और द्वेष दोनों से होता है। मोह, ममता और आसक्ति इन सब का अन्तर्भाव राग में हो जाता है। ईर्ष्या, मात्सर्य, क्रोध और अभिमान इन सब का समावेश द्वेष में हो जाता है। द्वेष के वशीभूत होकर जीव दूसरों का मरण चाहता है, उन्हें परितापना देता है, हानि पहुंचाता है, बे-इज्जत करता है, और जीवों के पतन की कामना करता है। यहां तक कि वह द्वेष से प्रेरित होकर किसी का विनाश भी कर सकता है, अतः राग और द्वेष, बंध के कारणभूत हैं। इस बंधन से मुक्त होने की साधना ही 'बंधन-प्रतिक्रमण' है।

3. दण्ड-प्रतिक्रमण

जिससे जीवों की हिंसा होती है वह दण्ड है। दण्ड दो प्रकार का होता है—द्रव्यदण्ड और भावदण्ड। बाहर के साधनों से किसी जीव की हिंसा करना, या किसी भी जीव को परितापना देना द्रव्य-दण्ड है। मन, वचन और काय की दुष्प्रवृत्तियां ही भाव-दण्ड हैं। इन दोनों प्रवृत्तियों से निवृत्त होने की साधना ही 'दण्ड-प्रतिक्रमण' है।

4. अगुप्ति-प्रतिक्रमण

सभी प्रकार की दृष्प्रवृत्तियों से मन, वचन और काय को सुरक्षित रखना गुप्ति है। निषिद्ध क्रियाओं का आचरण करना, करणीय क्रियाओं का आचरण न करना, तत्त्वों पर श्रद्धा न रखना, जिन-मार्ग से विपरीत प्ररूपणा करना—ये सब दुष्प्रवृत्तियां हैं। इन से मन, वचन और काय को सब ओर से गुप्त

रखना–सुरक्षित रखना ही गुप्ति है। गुप्ति का पालन न करना ही अगुप्ति है और अगुप्ति से निवृत्त होकर गुप्ति की साधना करना ही 'अगुप्ति-प्रतिक्रमण' है।

5. शल्य-प्रतिक्रमण

शल्य का अर्थ है–कांटा, या कांटे की तरह का कोई भी तीखा पदार्थ। शल्य भी दो प्रकार के होते हैं–द्रव्य-शल्य और भाव-शल्य। लापरवाही में ही कांटा चुभता है, सावधानी में नहीं। जैसे चुभा हुआ सूक्ष्म कांटा न तो दिखता है और न आसानी से निकलता ही है, यदा-कदा वह चुभन अवश्य मारता है और शरीर को बेचैन बनाए रखता है, उसके निकलने के बाद ही बेचैनी दूर हो सकती है, वैसे ही भाव-शल्य इहलोक और परलोक में जीव को बेचैन बनाए रखता है।

यद्यपि निश्चय दृष्टि से अन्तःभाव-शल्य एक ही प्रकार का है, तथापि व्यवहार-दृष्टि से उसके तीन भेद हैं–माया-शल्य, निदान-शल्य और मिथ्यादर्शन-शल्य।

माया-शल्य–माया का अर्थ है कपट। संयम, तप, विनय-भक्ति आदि धर्म-साधनों के आचरण में कपट करना–मायाचारिता करना, अपने पापों की गुरु के समक्ष आलोचना न करना, किसी पर झूठा आरोप लगाना, प्रायश्चित्त करने के लिये अपनी मनोभूमि को तैयार न करना 'मायाशल्य' है।

निदान-शल्य–किसी की भौतिक सुख-समृद्धि की उत्कर्षता को देखकर या सुनकर, आध्यात्मिकता से विमुख होकर, संयम और तप के बदले में सांसारिक सुख-समृद्धि की आकांक्षा करना, या क्रोध में भरकर किसी का विनाश करने की भावना से अपनी साधना रूप करणी को बेच डालना 'निदान शल्य' है।

मिथ्यादर्शन-शल्य–सत्य से विपरीत असत्य से लगाव रखना ही मिथ्या-दर्शन-शल्य है। जिसके विचार और आचार सत्य-स्पर्शी नहीं

होते—असत्याग्रही होते हैं, उसमें मुख्य कारण मिथ्यादर्शन-शल्य ही हुआ करता है।

ये तीनों शल्य सुगति के प्रतिरोधक हैं। आलोचना, पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त करने से साधक निःशल्य बनता है। शल्यों से निवृत्त होने की साधना ही 'शल्य-प्रतिक्रमण' है।

6. गौरव-प्रतिक्रमण

अभिमान और लोभ से होने वाले अशुभ भाव ही गौरव हैं। गौरव तीन प्रकार का होता है—ऋद्धि-गौरव, रस-गौरव और साता-गौरव।

ऋद्धि-गौरव—लोक में सत्ता की प्राप्ति से या योगजन्य, एवं तपोजन्य सिद्धियों अथवा विभूतियों की उपलब्धि से जो अभिमान उत्पन्न होता है उसे 'ऋद्धि-गौरव' कहा जाता है।

रस-गौरव—इन्द्रियों के अनुकूल और मन के अनुकूल अभीष्ट रस की उपलब्धि से जो अभिमान होता है वह 'रस-गौरव' है।

साता-गौरव—अन्य साथियों की अपेक्षा अधिक सुख की प्राप्ति, नीरोगता एवं स्वस्थता की उपलब्धि से जो अभिमान उत्पन्न होता है उसे ही साता-गौरव कहते हैं। गौरव से जीव भारी बन जाता है, अतः गौरव पतन का कारण है, उत्थान का नहीं। उपर्युक्त त्रिविध गौरव से निवृत्त होने की साधना ही गौरव- प्रतिक्रमण है।

7. विराधना-प्रतिक्रमण

विराधना का अर्थ है—खण्डित करना। यह तीन प्रकार की होती है—ज्ञान-विराधना, दर्शन-विराधना और चारित्र-विराधना।

ज्ञान-विराधना—ज्ञान की निन्दा और अज्ञान की प्रशंसा करना, अनुदारता के कारण ज्ञान छिपाना, ज्ञान की आशातना करना, दूसरों की ज्ञान-प्राप्ति में विघ्न डालना, अकाल में स्वाध्याय करना, अनध्याय में स्वाध्याय करना, विद्या-गुरु का अपलाप करना आदि ज्ञान-विराधना है।

सम्यग्दर्शन को खण्डित करने से दर्शन-विराधना होती है। जिन-वाणी में, नव-तत्त्वों में तथा अरिहन्त-भगवान की आज्ञा में एवं उनके द्वारा बताए गए कल्याण के अमोघ साधनों में शंका करना, मिथ्या-दृष्टियों, नास्तिकों तथा एकान्तवादियों के वाग्जाल में फंसना, या उनके आडंबरों को देखकर उनकी ओर आकृष्ट होते हुए उनकी आकांक्षा करना, शुभ और अशुभ कर्मफल के प्रति संदेह करना, मिथ्यावादों या मिथ्यावादियों के साथ अधिक परिचय बढ़ाना तथा उनकी प्रशंसा करना इत्यादि अतिचारों के कारण सम्यग्दर्शन से विचलित होना, अथवा केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इन पांचों का अवर्णवाद अर्थात् निन्दा करना, इन कारणों से जीव सन्मार्ग से भटक जाता है एवं सम्यग्दर्शन से दूर हो जाता है। यही सम्यग्दर्शन की विराधना है।

चारित्र के पांच भेद हैं, उनमें से किसी भी एक को खण्डित करना, चारित्र से भ्रष्ट होना या चारित्र को अतिचारों से दूषित करना विराधना है। विराधना से लौटकर आराधना में आने की साधना ही 'विराधना-प्रतिक्रमण' है।

8. कषाय-प्रतिक्रमण

कषाय मोहनीय कर्म के उदय से मन के पवित्र भावों को दूषित करने वाली क्रोध, मान, माया, लोभ रूप विकृत वृत्तियों को कषाय कहते हैं।

क्रोध-क्रोध विष है, यह शीघ्र न बुझने वाली आग है। इसका उदय होने पर ज्ञान-नेत्र बंद हो जाते हैं। क्रोध से जीव स्वयं तपता है और दूसरों को भी तपाता है। निमित्त मिलने पर भी ज्ञानी जन उसको और उसके फल को जानकर उससे दूर रहने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि क्रोधाग्नि से उठता हुआ कुभावनाओं का धुआं क्रोधी को तो नष्ट करता ही है, उसके चारों ओर के वातावरण को भी दूषित कर देता है।

मान-मान के आगमन से जीव में कठोरता पैदा हो जाती है, अपने को उच्च और दूसरे को नीच समझना ही मान है। हठ-ईर्ष्या, मात्सर्य ये सब मान के ही रूप हैं। क्रोध और मान के मिलन से द्वेष पैदा होता है। द्वेष सब को शत्रु बना देता है।

माया–आत्म-वंचना एवं पर-वंचना को माया कहते हैं। बाह्य-पदार्थों के निमित्त से दूसरों को ठगना पर-वंचना है तथा संयम और तप में छल करना आत्म-वंचना है।

लोभ–अप्राप्त वस्तु की आशा करना, प्राप्त वस्तु को संग्रहीत करना लोभ है। लाभ से लोभ बढ़ता है। लोभ से संतोष नष्ट हो जाता है। माया और लोभ के मेल से काम-वासना की उत्पत्ति होती है। इन चारों कषायों से निवृत्त होना ही 'कषायप्रतिक्रमण' है।

9. संज्ञा-प्रतिक्रमण

असाता-वेदनीय और मोहनीय कर्म इन दोनों के उदय से जब मानवीय चेतना विकृत हो जाती है, तब चेतना की उस विकृतदशा को संज्ञा कहा जाता है। संज्ञा द्वारा सभी तरह के पापाचरणों का होना संभव है।

संज्ञा चार प्रकार की होती है–आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा और परिग्रह-संज्ञा।

आहार-संज्ञा–आहार-की तीव्राभिलाषा ही आहार-संज्ञा है। इस संज्ञा का उदय होने पर साधक के मन में भक्ष्य-अभक्ष्य, पेय-अपेय, कल्पनीय-अकल्पनीय, निर्दोष-सदोष, सूझते-असूझते आहार का विवेक नहीं रह जाता, वह अग्नि की तरह सर्वभक्षी बन जाता है। वह खाने के लिए जीता है, जीने के लिए नहीं खाता।

भय-संज्ञा–भय-मोहनीय-कर्म के उदय-काल में जीव को जो नहीं करना चाहिये, उसे करने के लिए भी वह उद्यत हो जाता है। आत्म-हत्या और पर-हत्या जैसे जघन्य कार्य भी भय-संज्ञा से होते हैं। भय से बचने के लिए मानव अन्य जीवों की बलि भी दे डालता है। पापों एवं अपराधों से डरना संयम है। तथा प्राणनाशक हानिकारक तत्त्वों से एवं दुःखप्रद कर्म-फल से डरकर देवी-देवता की शरण में जाना भय-संज्ञा है।

मैथुन-संज्ञा–जब यह संज्ञा उत्पन्न होती है, तब मानव विवेकहीन होकर दुराचार में फंस जाता है। और इह-भविक और पारभविक यातनाएं सहता

हुआ दुर्गतियों में भटकता रहता है, जहां से उसका उभरना दुःशक्य हो जाता है।

परिग्रह-संज्ञा—इस संज्ञा के वशीभूत होकर मानव सभी तरह के पापाचरण करने के लिए तैयार रहता है, वह अपनी सुगति के द्वार बंद कर लेता है और अपने लिये दुर्गति के द्वार खोल लेता है। इन संज्ञाओं से निवृत्त होने की साधना ही 'संज्ञा-प्रतिक्रमण' है।

10. विकथा-प्रतिक्रमण

संयम-विरुद्ध कथा, अर्थात् चर्चा को विकथा कहते हैं। वह मुख्यतया चार प्रकार की होती है। स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा और राज-कथा।

स्त्रीकथा—स्त्रियों की जाति, कुल, रूप और वेष आदि की चर्चा करना संयमियों के लिए निषिद्ध है। जितेन्द्रिय और तपस्वी खान-पान की चर्चा करके समय नष्ट नहीं करते। निस्पृह साधक धर्म-कथा को छोड़ कर देश-विदेशों की बातों में समय नहीं खोते। तीर्थंकर, गणधर एवं संयमियों की कथा छोड़ कर राजकथा में अनमोल समय नष्ट करना ज्ञानियों की आज्ञा नहीं है, अतः सभी तरह की विकथाओं से निवृत्त होना ही 'विकथा-प्रतिक्रमण' है।

11. ध्यान-प्रतिक्रमण

ध्यान का अर्थ है मन की एकाग्रता। ध्यान चार प्रकार का होता है—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म-ध्यान और शुक्लध्यान।

आर्त्तध्यान—अनिष्ट-संयोग एवं इष्ट-वियोग से, भयंकर एवं दुःसह्य वेदना से एवं ऐन्द्रिय सुख-समृद्धि के अभाव से, कभी-कभी मन अशान्त एवं खिन्न हो जाता है। उस अशान्त अवस्था की चित्तवृत्ति को आर्त्तध्यान कहा जाता है।

रौद्र-ध्यान—मन से किसी की हिंसा करना या हिंसा में मन को प्रवृत्त करना, मन से असत्य-भाषण की बात सोचना, मन से किसी की चोरी करना या चोरी का विशेष तरीका सोचने में मन को लगाना, किसी की

अमानत को मारने की भावना करना, किसी की अमानत में खयानत करने की योजनाएं बनाना, आदि रौद्रध्यान के अनेक रूप हैं। जब कभी मन में द्वेष उभरता है तब रौद्र ध्यान ही होता है।

ये दोनों ध्यान अप्रशस्त हैं, यदि इन में से किसी भी ध्यान में मन को जोड़ा हो तब अप्रशस्त भाव होने से व्रतों का दूषित होना स्वाभाविक है।

धर्म-ध्यान–धर्म-भावना से प्राणियों पर दया करना, स्वधर्मीवात्सल्य, करुणा एवं अनुकंपा आदि से प्रेरित चिंतन एवं गुरुजनों तथा शास्त्रों द्वारा प्राप्त ज्ञान का मनन करना धर्म-ध्यान कहलाता है। धर्म-ध्यान की साधना साधु का परम कर्तव्य है।

शुक्ल-ध्यान–यह ज्ञान की सर्वोत्तम दशा है। इसमें साधक ऐसा आत्म-चिन्तन करता है जिससे उसका आत्म-मल धुलता जाता है। यह भी साधु के लिये विहित ध्यान है।

ध्यान के प्रथम दो रूपों में प्रवृत्ति करने से तथा अन्तिम दो रूपों में प्रवृत्ति न करने से जो दोष लगता है उसकी निवृत्ति के लिये किये जाने वाले प्रतिक्रमण को 'ध्यान-प्रतिक्रमण' कहा जाता है।

12. क्रिया-प्रतिक्रमण

आस्रवों की जननी प्रवृत्ति को क्रिया कहा जाता है। क्रिया पांच प्रकार की होती है–1. कायिकी, 2. आधिकरणिकी, 3. प्राद्वेषिकी, 4. पारितापनिकी, 5. प्राणातिपातिकी।

13. कामगुण-प्रतिक्रमण

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श ये पांच कामगुण कहलाते हैं। वास्तव में मानव-मन के लिये न कोई वस्तु अनुकूल है और न ही प्रतिकूल है। जो वस्तु एक के लिये अनुकूल है, वही वस्तु दूसरे के लिए प्रतिकूल। जो वस्तु किसी के लिये प्रतिकूल है, वही वस्तु दूसरे के लिए अनुकूल होती है।

भौतिक सुख-समृद्धि की उपलब्धि का अर्थ है पांच इन्द्रियों के पांच विषयों की संप्राप्ति। उससे जो सुखानुभव होता है वह काम-गुण है। कामगुण

संयम से विचलित करने वाले हैं, क्योंकि जहां कामगुण हैं वहां संसार है। इन कामगुणों से निवृत्त होने की साधना ही 'कामगुण-प्रतिक्रमण' है।

14. महाव्रत-प्रतिक्रमण

अणुव्रतों की अपेक्षा जो व्रत महान हों, वे महाव्रत कहलाते हैं। अणुव्रतों में आगार भी रखे जा सकते हैं, किन्तु महाव्रतों में कोई छूट नहीं रखी जा सकती है, अतः इन्हें सार्वभौम महाव्रत भी कहा जाता है।

अणुव्रतों में 49 विकल्प-भंग, करण और योग के संयोगों से बनते हैं। जबकि महाव्रत तीन योग और तीन करण के संयोग से ग्रहण किए जाते हैं, उनका कोई भी विकल्प या भंग नहीं बनता।

उत्सर्ग में अप्रमत्तता होती है और अपवाद मार्ग में प्रमाद। अपवाद में पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त की बहुलता होती है। यदि दोषों के सेवन करने पर भी न तो पश्चात्ताप किया जाता है और न ही प्रायश्चित्त, तो वह स्वच्छन्दता एवं अनुशासन-विहीनता है। प्रमादवश किसी भी महाव्रत में दोष लग जाने पर उससे निवृत्ति परम आवश्यक है। महाव्रतों को निष्कलंक बनाये रखने की साधना ही 'महाव्रत-प्रतिक्रमण' है।

15. समिति-प्रतिक्रमण

सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना ही समिति है। अहिंसा रूप महाव्रतों की रक्षा के लिये मुख्यतया समितियों का पालन किया जाता है। इसके पांच भेद हैं-1. ईर्या-समिति, 2. भाषा-समिति, 3. एषणा-समिति, 4. आदान-भंड-मत्त-निक्षेपणा-समिति, 5. उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-मल-सिंघाण-परिष्ठापनिका-समिति।

ईर्या-समिति-ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि एवं पुष्टि के लिये आगमोक्त विधि के अनुसार दिन में शरीर-परिमाण भूमि को देखते हुए उचित मार्ग पर यतनापूर्वक गमनागमन करना, हाथी-घोड़ा एवं बैल आदि पंचेन्द्रिय जीवों की सवारी न करना, कार, बस, ट्रेन आदि यान्त्रिक वाहनों का प्रयोग न करना, क्योंकि भूमि पर रेंगने वाले जन्तुओं की रक्षा के

निमित्त दिन में देखते हुए उपयोग सहित यतना के साथ पैदल विहार करना ही ईर्यासमिति है।

भाषा-समिति—अहिंसा और सत्य इन दो महाव्रतों की रक्षा के लिए भाषा-समिति का विधान किया गया है। साधु-साध्वी को ऐसी भाषा नहीं बोलनी चाहिये जिससे किसी के मन को या तन को ठेस पहुंचे। असत्य तो बोलना ही नहीं, किन्तु सत्य भी मधुर, निरवद्य एवं हितकर बोलना चाहिये। यदि कभी भूल कर अनजानपने में भाषासमिति का उल्लंघन हो जाय तो उस की निवृत्ति के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक होता है।

एषणा-समिति—निर्दोष आहार-पानी की गवेषणा करना एषणा-समिति है। आहार-पानी की इस प्रकार विवेक-पूर्वक गवेषणा करनी चाहिये जिससे कि उसके द्वारा छः काय के जीवों की विराधना हो, ईमानदारी एवं प्रामाणिकता से सूझता आहार ग्रहण करना, गुरुजनों की आज्ञा के बिना ग्रहण न करना, पहले प्रहर का लाया हुआ आहार-पानी चौथे प्रहर में ग्रहण न करना, रात में संचय करके न रखना एषणा-समिति के पालक के लिये आवश्यक है। इससे पांचों महाव्रतों की रक्षा होती है।

आदान-भण्ड-मत्त-निक्षेपणा-समिति—वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि किसी भी वस्तु को प्रतिलेखना-प्रमार्जना किए बिना न तो उठाना और न रखना। इस से पहले और तीसरे महाव्रत की रक्षा होती है।

परिष्ठापनिका-समिति—किसी वस्तु के सदैव काल के लिये त्याग को परिष्ठापनिका कहते हैं। मल-मूत्र-श्लेष्म, पसीना, केश, नाखून आदि सर्वथा त्याज्य शरीर के मलों को ऐसे अचित्त स्थान में परठना चाहिये जहां न कोई आता हो और न कोई देखता हो।

ऐसी कोई समिति नहीं जिस में अहिंसा महाव्रत का समावेश न होता हो। किसी समिति का पालन यथावत् न किया गया हो तो उस दोष से निवृत्ति पाने के लिये किया जानेवाला प्रतिक्रमण ही 'समिति-प्रतिक्रमण' है।

16. छः जीव–निकाय–प्रतिक्रमण

जीवों के समूह को जीव–निकाय कहते हैं। जिन जीवों का शरीर पृथिवी रूप हो उन्हें पृथिवीकाय कहते हैं, जिन जीवों का शरीर जल–रूप हो उन्हें अप्काय कहते हैं, जिन जीवों का शरीर तैजस् रूप हो उन्हें तेजस्काय (तेउकाय) कहते हैं तथा जिन जीवों का शरीर वायु रूप हो उन्हें वायुकाय कहा जाता है। इन चार स्थावरों में जघन्य भी असंख्यात और उत्कृष्ट भी असंख्यात, एक काय में भी असंख्यात और चारों कायों में भी असंख्यात जीव होते हैं।

जिन जीवों का शरीर वनस्पति रूप हो उन्हें 'वनस्पति काय' कहा जाता है, इसमें संख्यात, असंख्यात और अनन्त तीनों प्रकार के जीव विभिन्न दृष्टियों से पाए जाते हैं।

चलने–फिरने वाले कीटाणु से लेकर हाथी आदि महाकाय जीवों तक तथा मनुष्य, नारक, देव आदि सभी जीव त्रस कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय सभी में असंख्यात–असंख्यात जीव हैं। ये जीव त्रस्त होते हैं और त्रस्त होकर अपने बचाव के लिये इधर–उधर सरकते, दौड़ते, भागते हैं, इसी कारण इन्हें 'त्रसकाय' कहा जाता है।

उक्त जीवों के अस्तित्व को अस्वीकार करना, उनकी हिंसा में पाप न मानना, उनकी यतनापूर्वक रक्षा न करना, तीर्थंकर भगवन्तों की आज्ञा का उल्लंघन है। हिंसा से सतत सावधान रहते हुए भी यदि विराधना हो जाये तो उस विराधना–दोष की निवृत्ति के लिये प्रतिक्रमण करना चाहिये। इसी प्रतिक्रमण को छः जीव निकाय प्रतिक्रमण कहा गया है।

17. लेश्या–प्रतिक्रमण

जैसे दो लकड़ियों को जोड़ने वाली सरेश होती है, वैसे ही जीव और कर्मपुद्गलों को स्थिति–काल तक जोड़े रखने वाली शक्ति लेश्या है। जीवों के भाव छः प्रकार के होते हैं–कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, और शुक्ल। इनको क्रमशः निकृष्टतम, निकृष्टतर, निकृष्ट, श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम भी कहते हैं। इनमें पहली तीन जो अप्रशस्त लेश्याएं हैं उनमें

प्रवृत्ति की हो और शेष तीन जो प्रशस्त हैं उनमें प्रवृत्ति न की हो तो यह लेश्या संबन्धी अतिचार है। इस अतिचार से निवृत्त होने की साधना ही 'लेश्या- प्रतिक्रमण' है।

18. भय-स्थान-प्रतिक्रमण

भय से प्राणी संकुचित हो जाता है। भयभीत मानव द्वारा सभी तरह के पापाचरण सम्भव होते हैं। आशंका से भय का उदय होता है और सम्यग्ज्ञान के प्रकाश से भय नष्ट हो जाता है। भय-मोहनीय कर्म के उदय से पैदा हुए आत्मा के विशेष परिणाम को भय कहते हैं। भय से अहिंसा, सत्य एवं सदाचार का उल्लंघन हो जाता है। यद्यपि भय के अगणित रूप हैं, तथापि आगमकारों न उन सब का अन्तर्भाव सात में किया है।

(क) सजातीय सबल व्यक्ति से डरना जैसे मानव, मानव से डरता है, यह इह-लोकभय कहलाता है।

(ख) दूसरी जाति के सबल प्राणी से डरना जैसे भूत-प्रेत तथा विषैले प्राणियों से डरना, पर-लोक-भय है।

(ग) धन की रक्षा के हेतु चोरों और डाकुओं आदि से डरना, आदान-भय है।

(घ) बिना किसी बाह्य कारण के अचानक डरना, अकस्माद्-भय है।

(ङ) भयंकर रोगादि की पीड़ा से डरना, वेदना-भय है।

(च) अपनी मौत से डरना, मरण-भय है।

(छ) अपयश से डरना, अश्लोकभय है।

भयों से निवृत्त होने की साधना ही 'भय-प्रतिक्रमण' है।

19. मद-स्थान-प्रतिक्रमण

अभिमान की प्रबलता को मद कहा जाता है। मानव के जीवन में जब भी मद का उद्भव होता है, तब वह उन्मत्त की तरह चेष्टायें करने लग जाता है और अपनी जाति एवं कुल को उच्च समझने लग जाता है एवं दूसरों की जाति एवं कुल को नीच। अपने अद्भुत रूप और बल का, अपनी विद्वत्ता और उग्रतपश्चर्या का अभिमान करना, पुण्य की प्रबलता से और

अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से अत्यधिक लाभ और ऐश्वर्य-सत्ता एवं समृद्धि को पाकर इठलाना मद है। मद जीवन को कठोर बनाता है और द्वेष को जगाता है। अभिमान के टीले पर चढ़ कर जब मानव चारों ओर दृष्टि-पात करता है, तब वह अपने को उच्च या महान् और दूसरों को नोच या तुच्छ समझने लग जाता है। इस मद के सभी कारणों से निवृत्त होने की साधना ही 'मदस्थान-प्रतिक्रमण' है।

20. ब्रह्मचर्य-गुप्ति-प्रतिक्रमण

विषयानन्द से—भोग-विलासता से निवृत्त होना द्रव्य ब्रह्मचर्य है। तप, सत्य, दया, आत्मा, ब्रह्म आदि में लीन होकर सूक्ष्म विकारों को भी उदित न होने देना भाव-ब्रह्मचर्य है। वेदमोहनीय कर्म के विपाकोदय और प्रदेशोदय का सर्वथा विच्छेद हो जाना ही भाव-ब्रह्मचर्य है।

अवेदी होने का मूल कारण द्रव्य ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का भली-भान्ति पालन तभी हो सकता है जबकि गुप्तियों का सम्यक् प्रकार से पालन किया जाये। गुप्ति का अर्थ होता है रक्षा करने वाली बाड़। इसके द्वारा जिस-जिस मार्ग से ब्रह्मचर्य नष्ट होता है, वहां-वहां बाड़ लगाई जाती है। बाड़ों की कुल संख्या 9 है, जैसे कि—

1. स्त्री, पशु और नपुंसक इन से रहित विविक्त शयनासन का सेवन करना।
2. स्त्रियों की कथा न करना, उनके साथ हंसी-मजाक न करना।
3. जिस स्थान में स्त्री बैठी हो उसके उठ जाने के बाद दो घड़ी तक वहां न बैठना।
4. स्त्रियों के मनोहर अंग-उपांगों को राग भाव से न देखना।
5. गरिष्ठ भोजन या रसीला खान-पान न करना।
6. रूखा-सूखा भोजन भी प्रमाण से अधिक न खाना।
7. भुक्त-भोगों को स्मरण में न लाना।
8. स्त्रियों के मनोहारी शब्दों की ओर ध्यान न देना।
9. विभूषा का त्याग करके सादगी से रहना।

(ब्रह्मचारिणी साध्वी स्त्री के स्थान में पुरुष समझें, क्योंकि ब्रह्मचर्य-साधना करने का नियम स्त्री के लिये भी उतना ही आवश्यक है जितना कि पुरुष के लिये।)

नौ बाड़ों में से यदि किसी एक भी बाड़ का उल्लंघन हो गया हो तो उससे निवृत्त होने की साधना 'ब्रह्मचर्य-गुप्ति-प्रतिक्रमण' है।

21. श्रमण-धर्म-प्रतिक्रमण

जो स्वावलम्बी हैं, बिना खेद माने तप करने वाले हैं, जो कर्मगति पर विश्वास रखने वाले हैं, अथवा जिनकी यह धारणा है कि आठ कर्मों से मुक्ति अपने ही बल-बूते पर हो सकेगी, दूसरा कोई भी हमारे कर्मों का क्षय नहीं कर सकेगा, उन्हें 'श्रमण' कहते हैं। श्रमणों का धर्म ही 'श्रमण-धर्म' कहलाता है। वह दस प्रकार का है, जैसे कि-

1. **क्षान्ति**-क्रोध पर विजय पाना।
2. **मार्दव**-अभिमान पर विजय पाना।
3. **आर्जव**-माया पर विजय प्राप्त करना।
4. **मुक्ति**-खाने में, काम-वासना की प्रवृत्ति में और द्रव्योपार्जन करने में सन्तोष धारण करना।
5. **तप**-इच्छाओं का निरोध करना, एवं प्राणियों को अभयदान देना।
6. **संयम**-प्राणातिपात आदि पांच पापों से निवृत्त होना।
7. **सत्य**-निष्कपटता से हित-मित भाषा बोलना।
8. **शौच**-भावों की तथा व्रतों की विशुद्धि एवं पवित्रता रखना।
9. **अकिंचनत्व**-परिग्रह रहित होना।
10. **ब्रह्मचर्य**-नवबाड़ सहित ब्रह्मचर्य का पालन करना।

इन में से किसी भी भेद का भली-भान्ति पालन न किया हो तो उस दोष से निवृत्त होने की साधना ही 'श्रमण-धर्म-प्रतिक्रमण' है।

22. उपासक-प्रतिमा-प्रतिक्रमण

विशिष्ट श्रावक को उपासक कहते हैं। उपासकों की प्रतिज्ञाओं को उपासक-प्रतिमा कहते हैं। उपासकों की 11 प्रतिमायें हैं, जिन की आराधना

क्रमशः अधिक फलवती हुआ करती है। किसी भी प्रतिमा को एक बार भी धारण किया जा सकता है और अवधि पूर्ण होने पर अनेक बार भी। चौथे गुणस्थान से श्रावकत्व प्रारम्भ होता है और पंचम गुणस्थान में उसकी वृत्ति पूर्ण हो जाती है।

ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना में साढ़े पांच वर्ष लगते हैं। प्रतिमाओं की नामानुसार आराधना की जाती है, जैसे कि–

1. **दर्शन-प्रतिमा**–सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए इस प्रतिमा की आराधना करना।
2. **व्रत-प्रतिमा**–पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत, इन आठ व्रतों की निर्दोष आराधना करना।
3. **सामायिक-प्रतिमा**–सामायिक एवं देशावकाशिक व्रतों की विशुद्ध साधना करना।
4. **पौषध-प्रतिमा**–अष्टमी और चौदस को प्रतिपूर्ण पौषधोपवास का निरतिचार पालन करना।
5. **नियम-प्रतिमा**–दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना, रात्रि का परिमाण करना, स्नान एवं विभूषा का त्याग करना, रात को आहार-पानी का सेवन न करना, धोती में लांग न देना, एक महीने में कम से कम एक रात और पांच महीनों में पांच रातें धर्म-जागरण में व्यतीत करना।
6. **ब्रह्मचर्य-प्रतिमा**–छः महीने तक पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन करना।
7. **सचित्त-परिज्ञात-प्रतिमा**–किसी भी सचित्त वस्तु के सेवन करने का त्याग।
8. **आरम्भ-परिज्ञात-प्रतिमा**–अर्थात् आरम्भ का त्याग। (मकान बनाना, गिराना, सवारी करना, रंग-रोगन करना, खान-पान तैयार करना इत्यादि सभी क्रियाएं आरम्भ कहलाती हैं।)
9. **प्रेष्य-परिज्ञात**–अर्थात् दूसरों से आरम्भ कराने का परित्याग।

10. **उद्दिष्टभक्त-परिज्ञात**—जो खान-पान के पदार्थ प्रतिमाधारी श्रावक के लिए घर वालों ने बनाये हैं, उनका भी परित्याग इस प्रतिमा में हो जाता है।

11. **श्रमण-भूत**—अर्थात् जिस साधक की दिन-चर्या और रात्रि-चर्या साधु जैसी हो, उस श्रावक को श्रमण-भूत कहते हैं। उसके लिये केश-लुंचन वैकल्पिक है, जब कि साधु या साध्वी के लिये वैकल्पिक नहीं है।

पिछली साधना का पालन करते हुए आगे की साधना में अग्रसर होना ही साधक का मुख्य लक्ष्य है, अतः यथासूत्र, यथाकल्प और यथाविधि प्रतिमाओं का पालन करना तथा धर्म के सभी भेदों में श्रद्धा-प्रतीति एवं रुचि रखना, उपासक का परम कर्तव्य है। श्रमण-भूत उपासक, श्रावक प्रतिक्रमण नहीं करता, अपितु श्रमण-सूत्र पढ़ता है, अतः 11वें बोल में उपासक-प्रतिमाओं की विवेचना की गई है।

श्रमण निर्ग्रन्थ के लिए भी उपासक प्रतिमाएं श्रद्धा-प्रतीति के योग्य हैं तथा प्ररूपणा के योग्य भी। उपासक का जीवन उच्च, आदर्श एवं त्यागमय जानकर सर्व-विरतों को भी आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती रहती है। उपासकों की कठोर एवं उच्च वृत्ति को देखकर, जान कर, समझ कर विपरीत प्ररूपणा कभी हो गई हो तो उस दोष से निवृत्त होने की साधना 'उपासक-प्रतिमा- प्रतिक्रमण' है।

23. भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिक्रमण

एक वह भिक्षु कहलाता है जिसका धन्धा भीख मांगने का हो और दूसरी तरह का वह भिक्षु होता है जिसका जीवन सन्तोषमय है। पहला तृष्णा की पूर्ति के लिए भीख मांगता है, दूसरा 42 दोष टाल कर संयम-निर्वाह के लिए भिक्षा मांगता है, संचय के लिए नहीं।

साधना काल में विचरते हुए भगवान् महावीर से जब कोई पूछता था कि 'तुम कौन हो?' तब श्रमण महावीर कहते थे 'मैं भिक्षु हूं।' इतना उत्तर

देकर वे मौन धारण कर लेते थे। जिसमें अभिमान की गन्ध नहीं होती वही साधु अपने को भिक्षु कह सकता है।[1]

भिक्षु की बारह प्रतिमाएं होती हैं। उनका आमूल-चूल आराधना-काल पौने आठ मास होता है। पहली सात प्रतिमाएं सात महीनों में पूर्ण हो जाती हैं। 8वीं, 9वीं और 10वीं इन तीन प्रतिमाओं का कालमान तीन सप्ताहों में पूर्ण हो जाता है। 11वीं प्रतिमा एक अहोरात्र की और 12वीं प्रतिमा एक रात की होती है।[2] जो साधना साधु-जीवन के लिये आवश्यक है उसमें श्रद्धा-प्रतीति एवं रुचि का न होना दोष है, उस दोष से निवृत्त होने की साधना ही 'भिक्षु-प्रतिमा-प्रतिक्रमण' है।

24. क्रियास्थान-प्रतिक्रमण

कर्मों का बन्ध और कर्मों से मुक्ति क्रिया से होती है। जो क्रिया मिथ्याज्ञान के साथ की जाती है वह कर्मबन्ध का कारण बनती है, किन्तु जो क्रिया सम्यग्ज्ञान पूर्वक की जाती है, वह क्रिया कर्मबन्ध का कारण नहीं बनती, बल्कि मोक्ष की प्राप्ति में सहायक बनती है। यहां उस क्रिया से तात्पर्य है जो कर्मबन्ध में कारण है।

क्रिया के मूलतः दो भेद हैं—सांपरायिकी और ईर्यापथिकी। इनमें सांपरायिकी क्रिया में बारह भेदों का समावेश हो जाता है, किन्तु ईर्यापथिकी क्रिया एक ही प्रकार की है। जिन गुणस्थानों में मोहनीय कर्म का आंशिक उदय भी है वहां सांपरायिकी क्रिया है। पहले से लेकर दसवें गुणस्थान तक इसी क्रिया का बोलबाला होता है। 11वें, 12वें तथा 13वें गुणस्थान में केवल ऐर्यापथिकी क्रिया ही पाई जाती है।

कर्मबन्ध के 13 कारण अर्थात् क्रिया-स्थान निम्नलिखित हैं, जैसे कि—1. अर्थ-दण्ड, 2. अनर्थ-दण्ड, 3. हिंसा-दण्ड, 4. अकस्मात्-दण्ड, 5. दृष्टि-विपर्य्यास-दण्ड, 6. मृषावाद-प्रत्ययिक, 7. अदत्तादान-प्रत्ययिक,

1. विस्तृत वर्णन के लिए देखिये सूयगडांग सूत्र का 16वां अध्ययन।
   उत्तराध्ययन का 15वां अध्ययन। दशवैकालिक सूत्र का दसवां अध्ययन।
2. उपासक-प्रतिमाओं का तथा भिक्षु-प्रतिमाओं का विस्तृत वर्णन दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की क्रमशः छठी एवं सातवीं दशा में उपलब्ध है।

8. अध्यात्म-प्रत्ययिक, 9. मान-प्रत्ययिक, 10. मित्र-दोष-प्रत्ययिक, 11. माया-प्रत्ययिक, 12. लोभ-प्रत्ययिक, 13. ऐर्या-पथिकी। पूर्वोक्त अशुभ क्रियाओं से निवृत्त होने की साधना ही 'क्रिया-स्थान-प्रतिक्रमण' है।[1]

25. भूतग्राम प्रतिक्रमण

यद्यपि भूत शब्द के अनेक अर्थ हैं—वानव्यन्तरों की एक विशेष जाति को भूत कहा जाता है, वनस्पति-काय के लिए भी भूत शब्द का प्रयोग किया जाता है, तथापि इस प्रसंग में भूत शब्द सभी संसारी जीवों के लिए रूढ़ है। ग्राम का अर्थ है—समूह। जैसे मनुष्यों की वसति को ग्राम कहा जाता है, वैसे ही जीवों के 14 भेद हैं, उनमें से प्रत्येक भेद को ग्राम कहा जाता है, जैसे कि—सूक्ष्म एकेन्द्रिय के दो भेद, पर्याप्त और अपर्याप्त। बादर एकेन्द्रिय के दो भेद—पर्याप्त और अपर्याप्त। द्वीन्द्रिय जीवों के दो भेद—पर्याप्त और अपर्याप्त। त्रीन्द्रिय जीवों के दो भेद—पर्याप्त और अपर्याप्त। चतुरिन्द्रिय जीवों के दो भेद—पर्याप्त और अपर्याप्त। संज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद—पर्याप्त और अपर्याप्त। असंज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद—पर्याप्त और अपर्याप्त।[2] इस चौदह प्रकार के जीव-समूह को भूतग्राम कहा जाता है और भूत-ग्राम के सम्बन्ध में अहिंसा, दया और रक्षा आदि का ध्यान रखने में यदि यतना न की गई हो तो उस दोष से निवृत्त होने की साधना 'भूतग्राम प्रतिक्रमण' है।

26. परमाधार्मिक-प्रतिक्रमण

भवनवासी देवों में एक देव-जाति असुर कुमार कहलाती है। उस जाति में भी एक विशेष जाति है—परमाधार्मिक। वे सब मिथ्यादृष्टि एवं एकान्त निर्दयी होते हैं। उनकी अधार्मिक वृत्तियां अत्यन्त दुष्ट होती हैं, उन्हें नरकपाल भी कहते हैं। उन का अस्तित्व पहली नरक से लेकर तीसरी नरक तक पाया जाता है। कृष्ण लेश्या-प्रधान असुरकुमार प्रायः परमाधार्मिक

---

1. इन क्रियाओं का विस्तृत वर्णन जानने के लिए देखो सूत्रकृतांग के दूसरे श्रुतस्कन्ध का दूसरा अध्ययन।
2. इनका विशेष वर्णन समवायांग सूत्र के 14वें समवाय में उपलब्ध है।

होते हैं। उनकी स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग की होती है। उनके 15 भेद हैं, जैसे कि–

1. अम्ब, 2. अम्बर्ष, 3. श्याम, 4. सबल, 5. रौद्र, 6. उपरौद्र, 7. काल, 8. महाकाल, 9. असिपत्र, 10. धनुःपत्र, 11. कुंभ, 12. बालुक, 13. वैतरणी, 14, खर-स्वर, 15 महाघोष।

ये पन्द्रह प्रकार के परमाधार्मिक 15 उपायों से नारकियों को पीड़ित करते हैं।[1]

इन देवों के अस्तित्व को न मानना अथवा क्रोधवश या द्वेषवश उन जैसे भाव मन में आए हों तो उस स्खलना का प्रतिक्रमण करना ही 'परमाधार्मिक प्रतिक्रमण' है।

27. गाथा-षोडषक प्रतिक्रमण

माहन, श्रमण, निर्ग्रन्थ और भिक्षु इन सब की आन्तरिक एवं बाह्य चर्या का जिस रीति-नीति से सूत्रकृतांग में वर्णन किया गया है उसका यथातथ्य पालन न किया गया हो तो उस भूल से पीछे हटना 'गाथाषोडशक प्रतिक्रमण' है। उन सोलह गाथाओं के नाम इस प्रकार हैं–

1. स्व-समय पर-समय, 2. वैतालीय, 3. उपसर्ग-परिज्ञा, 4. स्त्री-परिज्ञा, 5. नरक-विभक्ति, 6. वीर-स्तुति, 7. कुशील-परिभाषा, 8. वीर्य, 9. धर्म, 10. समाधि, 11. मार्ग, 12. समवसरण, 13. यथातथ्य, 14. ग्रन्थ, 15. आदानीय, 16. गाथा।

28. सप्तदशविध असंयम

मन, वचन और काय की निरंकुश एवं दुष्प्रवृत्तियों को असंयम कहते हैं। संयम के अभाव को भी असंयम कहा जाता है और असंयम में यत्किंचित् प्रवृत्ति करना भी असंयम है। असंयम के 17 भेदों में से किसी भी भेद में प्रवृत्ति करना असंयम है। असंयम के सत्रह भेद इस प्रकार हैं–

---

1. इनका विस्तृत वर्णन जानने के लिए सूत्रकृतांग के 5वें अध्ययन में की गई व्याख्या पर्याप्त है।

1. पृथिवीकाय-असंयम, 2. अप्काय-असंयम, 3. तैजस् काय-असंयम, 4. वायु-काय-असंयम, 5. वनस्पति-काय-असंयम, 6. द्वीन्द्रिय-असंयम, 7. त्रीन्द्रिय-असंयम, 8. चतुरिन्द्रिय-असंयम, 9. पञ्चेन्द्रिय-असंयम, 10. अजीव-असंयम, 11. प्रेक्षा-असंयम, 12. उपेक्षा-असंयम, 13. प्रमार्जना-असंयम, 14. परिष्ठापना-असंयम, 15. मन-असंयम, 16 वचन-असंयम, 17. काय-असंयम।

असंयम में अयतना के कारण किसी तरह प्रवृत्ति हो गई हो तो उस दोष की निवृत्ति के लिये की जाने वाली साधना ही 'असंयम-प्रतिक्रमण' है।

29. अब्रह्म-प्रतिक्रमण

विषयानन्द की लालसा से काम-वासना की पूर्ति किसी भी साधन से करना अब्रह्म कहलाता है। वीतराग प्रभु को छोड़कर शेष सभी संसारी जीवों पर कामदेव का अखण्ड शासन चल रहा है, उसके शासन से जो एक बार बाहर निकलता है, वह कभी उसके शासन में पुनः वापिस नहीं आता, वह सदा-सदा के लिए ब्रह्मानन्द में तल्लीन हो जाता है।

मनुष्य और तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय, ये सब औदारिक शरीरी हैं। औदारिक शरीर के साथ स्वयं वासना की पूर्ति मन से, वाणी से या काय से करना, या मन से, वचन से और काय से दूसरे से वासनापूर्ति कराना, जो औदारिक शरीर से वासना पूर्ति करते हैं उनका समर्थन या अनुमोदन मन से, वचन से और काय से करना-ये नौ भेद अब्रह्म के हैं। देव और देवियों का शरीर वैक्रिय होता है। वैक्रिय शरीर से भी औदारिक शरीर की तरह नौ भेद अब्रह्म के हो जाते हैं। शेष तीन शरीरों से भोग नहीं होता। अब्रह्म के इन 18 भेदों से निवृत्त होने की साधना करना ही 'अब्रह्म-प्रतिक्रमण' है।

30. ज्ञाताध्ययन-प्रतिक्रमण

प्रायः नाम-करण से ही शास्त्र का हार्द स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि ज्ञात शब्द के अनेकों ही अर्थ हैं, तथापि इस प्रसंग में दृष्टांत एवं इतिहास ही ज्ञात शब्द का अर्थ अभीष्ट है। किसी भी विषय को स्पष्ट करने के

लिए दृष्टान्त भी सहायक हुआ करता है। कथानक से जितने भी सारांश निकलते हैं वे सब ज्ञात कहलाते हैं। ज्ञाताधर्मकथांग का अंग शास्त्रों में छठा स्थान है। इसके दो स्कन्ध हैं—ज्ञात और धर्म-कथा। पहले श्रुत-स्कन्ध के उन्नीस अध्ययन हैं। उनमें जो कथाओं के सारांश निर्दिष्ट हैं वे ही ज्ञात हैं। जैसे कि—

1. उत्क्षिप्त-ज्ञात, 2. संघाट, 3. अण्ड, 4. कूर्म, 5. शैलक, 6. तुम्ब, 7. रोहिणी, 8. मल्ली, 9. माकन्दी, 10. चन्द्रमा, 11. दावद्रव, 12. उदक, 13. मण्डूक, 14. तेतली, 15. नन्दीफल, 16. अपरकंका, 17. आकीर्ण, 18. सुषमा, 19. पुण्डरीक। इन 19 अध्ययनों में जो कथाओं का सारांश है उसके अनुसार यदि प्रवृत्ति एवं निवृत्ति न की हो तो उसका प्रतिक्रमण करना भी जरूरी है। ऐसे प्रतिक्रमण को 'ज्ञाताध्ययन-प्रतिक्रमण' कहा जाता है।

31. असमाधि-प्रतिक्रमण

शरीर का क्षतिग्रस्त होना या मन की शांति भंग होना ही असमाधि है। जिन कारणों से अपनी और दूसरे की समाधि भंग हो जाती है वे कारण बीस हैं। जैसे कि— 1. अतिशीघ्र चलना, 2. रात को बिना प्रमार्जन किए चलना, 3. बिना उपयोग के प्रमार्जन करना, 4. अनावश्यक शय्या पाट-पाटले रखना, 5. बड़ों का तिरस्कार करना, 6. स्थविरों को मारना-पीटना या मारने पीटने के उपायों का अन्वेषण करना, 7. किसी प्राणी का घात करना, 8. प्रतिक्षण रोष करना, 9. लम्बे काल तक भी क्रोध को शान्त न करना, 10. पीठ पीछे निंदा-चुगली करना, 11. बार-बार निश्चयात्मक भाषा बोलना, 12. नए सिरे से कलह उत्पन्न करना, 13. खिमत-खिमावना होने के अनन्तर भी पुरातन कलह की पुनः उदीरणा करना, 14. अकाल में स्वाध्याय करना, 15. सचित्त रजकण से भरे हुए हाथ पांवों से आहार करना या शय्या, आसन आदि पर आसीन होना, 16. पहर रात बीतने पर भी ऊंचे-स्वर से बोलना, 17. फूट डालना, 18. किसी को गालियां देकर दुर्वचन कह कर नया क्लेश उत्पन्न करना, 19. सूर्योदय से लेकर अस्त होने तक खान-पान करते रहना, 20. एषणा-समिति के विरुद्ध सदोष एवं अकल्पनीय आहार-पानी ग्रहण करना।

इन बीस कारणों से आत्म-विराधना, पर-विराधना एवं संयम-विराधना का होना निश्चित है, अतः इन कारणों से निवृत्त होने की साधना ही 'असमाधि-प्रतिक्रमण' है।

32. शबल-दोष-प्रतिक्रमण

जिन दोषों से महाव्रत, संयम या शान्ति भंग हो जाएं उन्हें शबल-दोष कहा जाता है। जिस प्रकार शुद्ध वस्त्र पर या शरीर पर गंदे कीचड़ के काले रंग के, तेल के अथवा तारकोल के छींटे पड़ने से वह मलिन हो जाता है और शीघ्र ही पूर्ववत् शुद्ध नहीं हो पाता है, वैसे ही शबल-दोषों से चारित्र अतिमलिन एवं दूषित हो जाता है। शबल दोष निम्नलिखित हैं–

1. हस्तकर्म करना, 2. मैथुन सेवन करना, 3. रात्रि में भोजन करना, 4. आधा-कर्म (साधु के निमित्त बनाया हुआ आहार-पानी) ग्रहण करना, 5. राजपिण्ड भोगना, 6. मूल्य देकर लिया हुआ अथवा उधार लिये हुए पदार्थ को लेना, किसी निर्बल से छीन कर लिया हुआ, अथवा सांझा पदार्थ भागीदारों की आज्ञा के बिना लेना, अपने निमित्त से उपाश्रय में गृहस्थ द्वारा लाया हुआ आहार ग्रहण करना, 7. आसक्ति वश बार-बार प्रत्याख्यान तोड़ना, 8. छः महीने के भीतर ही गण बदलना, 9. एक महीने में तीन बार नदी पार करना, 10. एक महीने में तीन बार छल-कपट करना, 11. शय्यातर का आहार-पानी ग्रहण करना, 12. जान-बूझकर हिंसा करना, 13. जान-बूझ कर झूठ-बोलना, 14. जान-बूझ कर चोरी करना, 15. जान-बूझकर सचित्त पृथिवी पर या शिला पर कायोत्सर्ग करना या बैठना, 16. सचित्त जलयुक्त पृथिवी पर कायोत्सर्ग करना या बैठना, 17. जिस चौंकी-पट्टे में घुण लगा हो और जहां बीज, हरित, ओस, पानी; कीड़ियों के भवन, पांच रंग के सूक्ष्म फूल, निगोदादि हों ऐसे स्थान में कायोत्सर्ग करना या बैठना, त्वग्-वर्तन करना, 18. जान-बूझ कर कंद-मूल, फल-फूल, त्वचा-कोंपल-बीज आदि का आहार करना, 19. वर्ष भर में दस बार नदी पार करना, 20. साल भर में दस बार कपट-व्यवहार अर्थात्-माया स्थानों का सेवन करना, 21. जान बूझकर सचित्त जल से लिप्त हाथ से कड़छी से, कटोरी से आहार-पानी लेना,

ये इक्कीस शबल-दोष हैं। इन दोषों से निवृत्त होने की साधना ही 'शबल-दोष-प्रतिक्रमण' है।

33. परीषह-प्रतिक्रमण

लक्ष्य से विचलित करनेवाले विघ्न-बाधाओं को परीषह कहते हैं। साधना-लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मार्ग से भ्रष्ट न होना तथा उन कष्टों को सभी तरह से शान्त चित्त रह कर सहन करने से कर्मों की महानिर्जरा होती है। इसी उद्देश्य को लेकर जिन कष्टों को समता से सहन किया जाता है, उन्हें परीषह कहा जाता है। वे परीषह संख्या में बाईस हैं, जैसे कि-

1. क्षुधापरीषह, 2. पिपासा-परीषह, 3. शीत-परीषह, 4. उष्ण-परीषह, 5. मशक-परीषह, 6. अचेल-परीषह, 7. अरति-परीषह, 8. स्त्री-परीषह, 9. चर्या-परीषह, 10. नैषेधिकी-परीषह, 11. शय्या-परीषह, 12. आक्रोश-परीषह, 13. वध-परीषह, 14. याचना-परीषह, 15. अलाभ-परीषह, 16. रोग-परीषह, 17. तृण-स्पर्श-परीषह, 18. जल्ल-परीषह, 19. सत्कार- पुरस्कार-परीषह, 20. प्रज्ञा-परीषह, 21. अज्ञान-परीषह, और 22. दर्शन-परीषह।[1]

34. सूत्रकृतांगाध्ययन-प्रतिक्रमण

अंग शास्त्रों में सूत्रकृतांग का स्थान दूसरा है। पहले श्रुतस्कन्ध के अध्ययन सोलह हैं और सात अध्ययन दूसरे श्रुतस्कन्ध के हैं, कुल 23 अध्ययन हैं। उनके नाम इस प्रकार है-

1. समय, 2. वैतालीय, 3. उपसर्ग, 4. स्त्री-परिज्ञा, 5. नरक-विभक्ति, 6. महावीर-स्तुति, 7. कुशील-परिभाषा, 8. वीर्य, 9. धर्म, 10. समाधि, 11. मार्ग, 12. समवसरण, 13. याथातथ्य, 14. ग्रन्थ, 15. आदिनाथ, 16. गाथा, 17. पौंडरीक, 18. क्रिया, 19. आहार, 20. प्रत्याख्यान, 21. आचार-श्रुत, 22. आर्द्रक, 23. नालंदीय।

1. इनका विस्तृत विवेचन देखने के लिये तत्त्वार्थ सूत्र हिन्दी अनुवाद सहित या उत्तराध्ययन सूत्र का दूसरा अध्ययन विशेष पठनीय है।

इन 23 अध्ययनों में जो साधु के कर्त्तव्यों का वर्णन है उसके अनुसार साधुवृत्ति का पालन भली-भान्ति न किया गया हो तो उन दोषों की निवृत्ति के लिये किया जाने वाला प्रतिक्रमण ही 'सूत्रकृतांग-अध्ययन-प्रतिक्रमण' है।

35. देव-प्रतिक्रमण

दिव्य शक्तियों से जो समृद्ध हैं उन्हें देव कहते हैं। दस भवनपति, आठ वान-व्यन्तर, पांच ज्योतिष्क और वैमानिकों का एक भेद। इस प्रकार देव जाति के कुल 24 भेद हैं। अथवा इस अवसर्पिणी काल में देवाधिदेव 24 हुए हैं जिन्हें तीर्थंकर भी कहते हैं, जैसे कि-

1. ऋषभदेव, 2. अजितनाथ, 3. संभवनाथ, 4. अभिनंदननाथ, 5. सुमतिनाथ, 6. पद्मप्रभ, 7. सुपार्श्वनाथ, 8. चन्द्रप्रभ, 9. सुविधिनाथ (अपर नाम पुष्पदन्त), 10. शीतलनाथ, 11. श्रेयांसनाथ, 12. वासुपूज्य, 13. विमलनाथ, 14. अनन्तनाथ, 15. धर्मनाथ, 16. शान्तिनाथ, 17. कुन्थुनाथ, 18. अरनाथ, 19. मल्लिनाथ, 20. मुनिसुव्रत, 21. नमिनाथ, 22. अरिष्टनेमि, 23. पार्श्वनाथ, 24. वर्धमान, अपर नाम श्रमण भगवान् महावीर। यदि इन 24 देवाधिदेवों की आशातना की हो, भक्ति और बहुमान न किया हो, उनका अवर्णवाद किया हो, तो उन दोषों से निवृत्त होने के लिये किया जाने वाला प्रतिक्रमण ही 'देव-प्रतिक्रमण' है।

36. भावना-प्रतिक्रमण

महाव्रतों की रक्षा 25 भावनाओं से होती है। प्रत्येक महाव्रत की पांच-पांच भावनाएं बतलाई गई हैं, जैसे कि-

1. अहिंसा महाव्रत की पांच भावनाएं हैं-ईर्या-समिति, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, आलोकितपान-भोजन, आदान-भण्डमात्र निक्षेपणा-समिति।

2. सत्य महाव्रत की भावनाएं भी पांच हैं-अनुविचिन्त्य भाषणता-सोच विचार कर बोलना, क्रोध-विवेक, लोभ-विवेक भय-विवेक, हास्य-विवेक।

3. अदत्तादान-विरमण महाव्रत की पांच भावनाएं हैं—अवग्रहानुज्ञापनता, सीमापरिज्ञान, अवग्रहानुग्रहणता, आज्ञा लेकर साधारण भोजन-पान का सेवन करना।

4. ब्रह्मचर्य महाव्रत की पांच भावनाएं हैं—स्त्री, पशु, नपुंसक इनसे युक्त शयनासन सेवन का त्याग, स्त्री-कथा-विवर्जन, स्त्री-इन्द्रियावलोकन, भुक्त- भोग-अननुस्मरण, प्रणीताहार विवर्जन।

5. अपरिग्रह महाव्रत की पांच भावनाएं—श्रोत्रेन्द्रिय रागोपरति, चक्षुरिन्द्रिय-रागोपरति, घ्राणेन्द्रिय-रागोपरति, रसनेन्द्रिय-रागोपरति, स्पर्शनेन्द्रिय-रागोपरति।

इन 25 भावनाओं का यथासंभव पालन न करने पर जो दोष लगता है, उस दोष से निवृत्त होने के लिये जो प्रतिक्रमण किया जाता है उसे 'भावना-प्रतिक्रमण' कहते हैं।

37. छेद-सूत्रोल्लंघना प्रतिक्रमण

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र के दस उद्देशक, व्यवहार सूत्र के दस उद्देशक, और बृहत्कल्प सूत्र के छः उद्देशक, इनमें जो साधुवृत्ति का विधान है या साधु के लिए निषेधाज्ञा का निर्देश है उनका यथासम्भव पालन एवं वर्जन में विपरीतता हो गई हो तो उन दोषों से निवृत्त होने के लिए किया जाने वाला प्रतिक्रमण ही सूत्रत्रय-उद्देशनकाल-प्रतिक्रमण' है।

38. अनगार-गुण-प्रतिक्रमण

साधु के सत्ताईस गुण होते हैं, उनकी आराधना साधु के लिए आवश्यक मानी गई है, जैसे कि 1-5. पांच महाव्रतों का पालन, 6-10. पांचों इन्द्रियों का निग्रह, 11-14. चार कषायों पर विजय, 15. भाव-सत्य, 16. करण-सत्य, 17. योग-सत्य, 18. क्षमा, 19. विरागता, 20. मनः-समाधारणता, 21. वचन-समाधारणता, 22. कायसमाधारणता, 23. ज्ञान-सम्पन्नता, 24. दर्शन-संपन्नता, 25. चारित्र-संपन्नता, 26. वेदनाध्यासनता, 27. मारणान्तिका-ध्यासनता।

इन 27 गुणों का प्रमादवश भली-भांति पालन न किया हो तो उस दोष से निवृत्त होने के लिये जो प्रतिक्रमण किया जाता है वही 'अनगार-गुण-प्रतिक्रमण' है।

39. आचार-प्रकल्प

पंचवधि आचार पालन करने के विधि-विधान को आचार कल्प कहते हैं। प्रमाद से या माया से जब कोई साधक आचार का अतिक्रमण करता है उसका पुनः शुद्धिकरण कैसे हो? इस विषय का विधि-विधान जिस शास्त्र में हो उसे **आचार-प्रकल्प** कहते हैं, अथवा जिस साधक का चारित्राचार दूषित हो चुका है उस साधक को पुनः विशेष मर्यादा में स्थापित करना आचार-प्रकल्प है।

आचारांग सूत्र में पच्चीस अध्ययन हैं उन्हें आचार कहते हैं और निशीथ सूत्र में तीन अध्ययन हैं जिन्हें प्रकल्प कहा जाता है। उद्घातिक, अनुद्घातिक और आरोपणा इन्हें प्रकल्प कहा जाता है। लघुमासिक एवं लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त को उद्घातिक और गुरु मासिक और गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त को अनुद्घातिक कहते हैं। एक प्रायश्चित्त पर दूसरा और दूसरे पर तीसरा प्रायश्चित्त देना आरोपणा कहलाता है।

समावायांग सूत्र के आधार पर आचार-प्रकल्प के भेद इस प्रकार हैं-

1. एक महीने की आरोपणा।
2. एक महीने और 5 दिन की आरोपणा।
3. एक महीने और 10 दिन की आरोपणा।
4. एक महीने और 15 दिन की आरोपणा।
5. एक महीने और 20 दिन की आरोपणा।
6. एक महीने और 25 दिन की आरोपणा।
7. दो महीने की आरोपणा।
8. दो महीने और 5 दिन की आरोपणा।
9. दो महीने और 10 दिन की आरोपणा।

10. दो महीने और 15 दिन की आरोपणा।
11. दो महीने और 20 दिन की आरोपणा।
12. दो महीने और 25 दिन की आरोपणा।
13. तीन महीने की आरोपणा।
14. तीन महीने और 5 दिन की आरोपणा।
15. तीन महीने और 10 दिन की आरोपणा।
16. तीन महीने और 15 दिन की आरोपणा।
17. तीन महीने और 20 दिन की आरोपणा।
18. तीन महीने और 25 दिन की आरोपणा।
19. चार महीने की आरोपणा।
20. चार महीने और 5 दिन की आरोपणा।
21. चार महीने और 10 दिन की आरोपणा।
22. चार महीने और 15 दिन की आरोपणा।
23. चार महीने और 20 दिन की आरोपणा।
24. चार महीने और 25 दिन की आरोपणा।
25. उपघातिकी आरोपणा।
26. अनुपघातिकी आरोपणा।
27. कृत्स्ना आरोपणा।
28. अकृत्स्ना आरोपणा।

प्रमाद एवं छल-कपट पूर्वक यदि साधु-साध्वी ने दोष-सेवन करने के कारण आरोपणा का यथोचित पालन न किया हो तो उस दोष की निवृत्ति के लिए 'आचार-प्रकल्प-प्रतिक्रमण' करना उनके लिए अनिवार्य है।

40. उनतीस पापश्रुत-प्रसंग-प्रतिक्रमण

जिन-ग्रन्थों का अध्ययन एवं अभ्यास करने से साधक की पाप में प्रवृत्ति हो जाए, उन ग्रन्थों को पाप-श्रुत कहते हैं। पाप-श्रुत का अभ्यास करना

ही पापश्रुत-प्रसंग कहलाता है। धर्म-क्षेत्र में अग्रसर होने वाले साधकों के लिये पापश्रुत का अभ्यास हितकर एवं श्रेयस्कर नहीं हो सकता। कोई भी अल्पज्ञ व्यक्ति अपने ज्ञान को सुषुप्त अवस्था में प्रयोग में नहीं लाना चाहता है। उस ज्ञान को प्रयोग में लाने से पाप में प्रवृत्ति स्वतः ही हो जाती है, पाप श्रुत के भेद इस प्रकार हैं-

1. भौम, 2. उत्पात, 3. स्वप्न-शास्त्र, 4. अन्तरिक्ष, 5. अंग-शास्त्र, 6. स्वर-शास्त्र, 7. व्यंजन-शास्त्र, 8. लक्षण-शास्त्र।

इन आठों के तीन-तीन भेद होते हैं-सूत्र, वृत्ति और वार्त्तिक, इस प्रकार पापश्रुत प्रसंग के 24 भेद हुए।

25. विकथानुयोग, 26. मंत्रानुयोग, 27. विद्यानुयोग, 28. योगानुयोग-वशीकरण आदि 29. अन्यतीर्थिक प्रवृत्तानुयोग-ये सब पापश्रुत हैं। इनका अभ्यास करने से साधु-जीवन दूषित हो जाता है, उसकी शुद्धि के लिए की जाने वाली साधना ही 'पापश्रुत-प्रसंग-प्रतिक्रमण' कहलाती है।

41. तीस महामोह स्थान-प्रतिक्रमण

जिन कारणों से महामोह का बंध किया जाता है, उन सभी बंध के कारणों को महामोह कहा जाता है। मोहनीय कर्म की 26 प्रकृतियां हैं। उनका उत्कृष्ट बंध 30 प्रकार से बांधा जाता है और 28 प्रकार से उन्हें भोगा जाता है। महामोह के बन्ध-स्थान तीस हैं। उन अधम क्रियाओं के करने से स्थितिबन्ध और अनुभाग-बंध दोनों उत्कृष्ट ही होते हैं। महामोह-स्थान में प्रवृत्त जीव को जिन-धर्म की प्राप्ति और सुगति सुलभ नहीं हो सकती। वे तीस महामोह स्थान इस प्रकार हैं-

1. त्रस प्राणियों को पानी में डुबो कर मारना।
2. प्राणियों को सिर पर चमड़ा आदि बांधकर मारना।
3. हाथ से मुख और नाक बंद करके सिसकते हुए प्राणी को मारना।
4. धुएं की घुटन से त्रस प्राणियों को मारना।
5. क्रूरता के साथ किसी के सिर पर प्रहार करके उसे फोड़ डालना।

6. विश्वासघात करके किसी को मारना।
7. अनाचार को छिपाना और गृहीत प्रतिमाओं को भंग करना।
8. किसी महादोष का दूसरे पर आरोप लगाना।
9. यथार्थ जानते हुए भी किसी के समक्ष मिश्रभाषा बोलना।
10. अपने स्वामी की स्त्री और धन-सम्पत्ति को हथियाना।
11. बाल-ब्रह्मचारी न होते हुए भी अपने को बाल-ब्रह्मचारी कहलाना।
12. ब्रह्मचारी न होते हुए भी अपने को ब्रह्मचारी कहना।
13. जिसके सहारे आजीविका चलाए उसी के धन को हड़पना।
14. किसी बहुत बड़े उपकारी के उपकार को न मानकर, उसकी सुख-समृद्धि से उसे वञ्चित करने का प्रयास।
15. किसी रक्षक, सेनापति या शास्ता को मार डालना।
16. राष्ट्र-नायक, नगर-नेता उपकारी एवं किसी सुप्रसिद्ध सेठ को मार देना।
17. जन-प्रिय एवं लोक-प्रिय नेता को मार डालना।
18. किसी वैरागी को या संयमी साधु को संयम से विमुख करना।
19. अनन्त ज्ञानी का अवर्णवाद एवं निन्दा करना।
20. मोक्ष-मार्ग से जनता को विमुख करना।
21. जिन गुरुओं से ज्ञान प्राप्त किया है उनकी अवहेलना एवं निन्दा करना।
22. आचार्य और उपाध्याय की सेवा एवं पूजा न करना।
23. बहुश्रुत न होते हुए भी अपने को बहुश्रुत कहना।
24. तपस्वी न होते हुए भी अपने को तपस्वी कहना।
25. उसने मेरी सेवा नहीं की, इस भावना से रोगी की सेवा न करना।
26. रत्नत्रय-विनाशक कथाएं पुनः पुनः करना।
27. किसी के निमित्त तांत्रिक रीति-नीति से टोना-टामन तथा वशीकरण आदि करना।

28. लोगों के सामने भोगों की निन्दा करना और लुके-छिपे उनका सेवन करना।
29. देवों की ऋद्धि, यश, बल, पराक्रम एवं द्युति आदि का मजाक उड़ाना।
30. देव-दर्शन न होने पर भी कहना कि मुझे देव-दर्शन होते हैं।

इन तीस भेदों में किसी भी निषिद्ध कार्य एवं कुकृत्य का आचरण हो गया हो तो उस दोष से निवृत्त होने के लिये की गई साधना को 'महामोह-स्थान-प्रतिक्रमण' कहते हैं।

42. सिद्धों के अतिशयपूर्ण 31 गुण

यद्यपि लोक-व्यवहार में सिद्ध शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है, तथापि इस प्रसंग में उन सिद्धों का उल्लेख है जिन्होंने पहले घाती कर्मों का क्षय करके अरिहंत पद को अलंकृत किया और फिर शेष चार अघाती कर्मों को नष्ट कर आत्यन्तिक मुक्ति प्राप्त की। सिद्धों में स्वभावतः अनन्तानन्त गुण हैं तथा उनमें औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं औदयिक अनन्त-अनन्त वैभाविक गुणों एवं पर्यायों का विलय हो जाता है। निश्चय में 'नमो सिद्धाणं' कह कर उन्हीं सिद्धों को नमस्कार किया जाता है, जिन सिद्ध भगवन्तों में 31 गुण हों, जैसे कि-

1. आभिनिबोधिक ज्ञानावरण का क्षय।
2. श्रुत-ज्ञानावरण का क्षय।
3. अवधि-ज्ञानावरण का क्षय।
4. मनःपर्यवज्ञानावरण का क्षय।
5. केवल-ज्ञानावरण का क्षय।
6. चक्षुर्दर्शनावरण का क्षय।
7. अचक्षुर्दर्शनावरण का क्षय।
8. अवधिदर्शनावरण का क्षय।
9. केवलदर्शनावरण का क्षय।
10. निद्रा का क्षय।
11. निद्रानिद्रा का क्षय।
12. प्रचला का क्षय।
13. प्रचलाप्रचला का क्षय।
14. स्त्यानर्द्धि का क्षय।
15. सातावेदनीय का क्षय।
16. असातावेदनीय का क्षय।

17. दर्शनमोहनीय का क्षय।
18. चारित्रमोहनीय का क्षय।
19. नैरयिक-आयु का क्षय।
20. तिर्यञ्च-आयु का क्षय।
21. मनुष्य-आयु का क्षय।
22. देव-आयु का क्षय।
23. शुभ नाम का क्षय।
24. अशुभ नाम का क्षय।
25. उच्च गोत्र का क्षय।
26. नीच गोत्र का क्षय।
27. दानांतराय का क्षय।
28. लाभान्तराय का क्षय।
29. भोगान्तराय का क्षय।
30. उपभोगान्तराय का क्षय।
31. वीर्यान्तराय का क्षय।

यहां यह स्मरणीय है कि उपर्युक्त इकतीस गुण सिद्धों में एक साथ अभिव्यक्त होते हैं, क्रमशः नहीं।

इन 31 कर्म प्रकृतियों के क्षय करने से जिनके अनन्तानन्त गुण निरावरण हो जाते हैं वे सिद्ध हैं। सिद्धों और सिद्धों के 31 गुणों के अस्तित्व से ही इन्कार करना, उनकी आशातना करना, उनका भक्तिपुरस्सर बहुमान न करना, अवर्णवाद करना, उनके 31 गुणों में आस्था न रखना, इस प्रकार उनके गुणों का उपहास करना भूल एवं दोष है। उस दोष से निवृत्त होने के लिये की जाने वाली साधना को ही 'सिद्धादि-गुण-प्रतिक्रमण' कहा गया है।

43. बत्तीस योग-संग्रह

योग दो प्रकार का होता है—हठयोग और राजयोग। पहले भेद की सम्यग्-दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों आराधना करते हैं, किन्तु राजयोग की साधना सम्यग्दृष्टि ही करता है, मिथ्यादृष्टि नहीं। योगसंग्रह में राजयोग के 32 भेदों का समावेश हो जाता है, परन्तु हठयोग का नहीं। योग के 32 भेदों का संग्रह ही योगसंग्रह है। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

1. **आलोयणा**—गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना।
2. **निरपलाप**—आलोचित दोषों को किसी के सामने प्रकट न करना।

3. **दृढ़-धर्मता**–आपत्ति में दृढ़ता से धर्म का पालन करना।

4. **अनिश्रितोपधान**–दूसरे की सहायता के बिना तपःकर्म करना।

5. **शिक्षा**–अध्ययन-अध्यापन की कला और शिक्षाओं को जीवन में उतारने की कला सीखना।

6. **निष्प्रतिकर्मता**–शरीर की सार-संभाल न करना।

7. **अज्ञातता**–अपनी तप-साधना को गुप्त रखना।

8. **अलोभता**–लोभ-लालच का त्याग करना।

9. **तितिक्षा**–परीषहों को समता से जीतना।

10. **आर्जव**–निष्कपटता एवं विनयशीलता।

11. **शुचि**–सत्य और संयम की पावनता।

12. **सम्यग्दृष्टिता**–सम्यग्दर्शन की विशुद्धि।

13. **समाधि**–मन की स्वस्थता एवं एकाग्रता।

14. **आचारोपगत**–पंचविध आचार का पालन।

15. **विनयोपगत**–मान न करना।

16. **धृति-मति**–दीनता-रहित होना।

17. **संवेग**–मोक्ष की अभिलाषा करना।

18. **प्रणिधि**–मायादि शल्यों का त्याग।

19. **सुविधि**–श्रेष्ठानुष्ठान का आचरण।

20. **संवर**–आस्रव-निरोध।

21. **आत्मदोषोपसंहार**–अपने दोषों का निरोध।

22. **सर्वकाम-विरक्तता**–सर्व विषयों से विमुखता।

23. **प्रत्याख्यान**–मूल गुणों का विशुद्ध रूप से पालन करने के लिये त्यागवृत्ति को अपनाना।

24. **प्रत्याख्यान**–उत्तर गुणों का विधिवत् पालन करना।

25. **व्युत्सर्ग**–कायोत्सर्ग करना।

26. **अप्रमाद**–प्रमाद-रहित होना।

27. **लवालव**–प्रतिक्षण समाचारी के पालन करने के लिये सजग रहना।

28. **ध्यान-संवर-योग**–ध्यान-साधना करना।

29. **उदए मारणन्तिए**–मृत्यु जैसे कष्ट के समय अविचल रहना।

30. **संग-त्याग**–आसक्ति का त्याग।

31. **प्रायश्चित्त-करण**–दोष-निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त लेना।

32. **आराहणा य मरणंते**–शरीर और कषायों को क्षीण करने के लिए संलेखना करना।

इन 32 योग-संग्रहों में जो आत्म-कल्याण के साधन बतलाए गए हैं उनकी आराधना भली-भांति न की हो तो उस दोष की निवृत्ति के लिए की जानेवाली साधना को ही 'बत्तीस योग-संग्रह-प्रतिक्रमण' कहा जाता है।

44. तेंतीस आशातना-प्रतिक्रमण

जो सब ओर से मोक्ष के साधनों को नष्ट-भ्रष्ट कर दे, साधक को अनुशासन-विहीन कर दे, जिससे जीव अनन्त संसारी बन जाए और जो जीव के लिये दुर्गति के द्वार खोल दे, उसे आशातना कहते हैं। आशातना शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा जाता है–**आयः-रत्नत्रयं, तस्य शातना-खण्डना–आशातना (यकारलोपः)** अर्थात् आशातना का अर्थ है रत्न-त्रय का विनाश करने वाला आचरण। आचार्य, उपाध्याय, गुरु और रात्निक ये सब आदरणीय, वन्दनीय पूजनीय एवं सेव्य हैं। इनकी अवहेलना करना, निन्दा-अपमान करना आशातना है। आशातना से अनन्त तीर्थंकरों की आज्ञा का उल्लंघन होता है। मन से बुरा सोचना, वाणी से अपशब्द बोलना, काय से दुर्व्यवहार करना भी आशातना है। उस आशातना का दुष्परिणाम जीव को अवश्य ही दुर्गतियों में भोगना पड़ता है। जो अपने को सर्वोच्च और पूजनीय को तुच्छ समझता है, वही आशातना करता है।

जो विद्या और चारित्र में उच्च होते हुए भी अपने को तुच्छ और पूजनीय एवं माननीय को सर्वोच्च मानता है, उससे विनय तो हो जाएगी, किन्तु आशातना तो उससे कभी भूलकर भी नहीं हो सकती। आशातना के 33 भेद हैं, जैसे कि–

1. **अरिहंताणं आसायणाए**–जीवन्मुक्त, सयोगी-केवली, क्षीणमोह, वीतराग, तीर्थंकर भगवान् अरिहन्त कहलाते हैं। उनकी सर्वज्ञता को स्वीकार न करना, उनके चौंतीस अतिशयों और पैंतीस वाणी के अतिशयों के विषय में शंका करना, उनके बताए हुए जीवादि तत्वों को तथा कठोर साधना को अव्यवहार्य बतलाना, अरिहंतों की आशातना है।

2. **सिद्धाणं आसायणाए**–देह-मुक्त, कर्म-विमुक्त, परब्रह्म परमात्माओं को सिद्ध कहते हैं। उनके अस्तित्व को स्वीकार न करना। शरीर के अभाव में सुख कहां? लोकाग्र-भाग में निश्चेष्ट होकर पड़े रहने से प्राणियों को क्या लाभ? इस तरह व्यर्थ की बातें कहना या समझना सिद्धों की आशातना है।

3. **आयरियाणं आसायणाए**–आचार्यों का अपमान करना, उनके समक्ष असभ्यता से बोलना, उन की आज्ञा या अनुशासन का उल्लंघन करना, उनके द्वारा दिए गए प्रायश्चित्त को स्वीकार न करना, उनका नाम लेकर अपनी स्वार्थ-पूर्ति एवं मनमानी करना, आचार्यों की आशातना है।

4. **उवज्झायाणं आसायणाए**–उन 'उपाध्याय का श्रुतज्ञान विकसित नहीं है, उनको अध्यापन-कला नहीं आती, उनको किसने उपाध्याय बनाया।' आदि बातें कहकर उनकी मान-हानि करना उपाध्यायों की आशातना है।

5. **साहूणं आसायणाए**–'आजकल साधु-संघ नाम मात्र का ही रह गया है, सब साधु अपनी मनमानी कर रहे हैं' इत्यादि बातें कह कर अपशब्दों के द्वारा उनका अपमान करना, जनता के सामने उनकी निन्दा करना, उन्हें तिरस्कार भरे शब्दों से सम्बोधित करना, आदि कार्य साधुओं की आशातना है।

6. **साहूणीणं आसायणाए**–साध्वी-संघ पर श्रद्धा का न होना, उन्हें कलह और संघर्ष का मूल मानना, कोई स्त्री साध्वी नहीं हो सकती,

क्योंकि उसे चारित्र की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः वह कर्मों पर विजय नहीं पा सकती, उनमें सर्वविरति बनने की योग्यता ही कहां होती है?' इस तरह कहना एवं मानना साध्वी-संघ की आशातना है।

7. **सावयाणं आसायणाए**–श्रावकों की अवहेलना भी एक अपराध है। जैसे अरिहन्त आदि पांच परमेष्ठियों की अवहेलना पाप है, वैसे ही तीर्थ होने के नाते श्रावकों की आशातना को भी पाप ही कहा गया है। श्रावकों का अपमान करना, उनके लिये अपशब्दों का प्रयोग करना, उनकी निन्दा चुगली करना–आशातना है। श्रावक-आशातना से निवृत्त होना भी साधक का परमकर्त्तव्य है।

8. **सावियाणं आसायणाए**–श्राविकाएं भी तीर्थ हैं। तीर्थ की दृष्टि से स्त्री भी धर्मात्मा है। श्राविकाओं का अपमान करना, उन्हें अपशब्दों से संबोधित करना, उन्हें धिक्कारना, उन्हें कलंकित करना पाप है। गृहस्थ-स्थिति में रहती हुई स्त्री को भी भगवान ने श्राविका कहा है, और उसे भी मोक्ष की अधिकारिणी माना है। अतः उसकी आशातना से भी साधक को बचने का प्रयास अवश्य करना चाहिए।

9. **देवाणं आसायणाए**–देवों के अस्तित्व को न मानना, उनका अवर्णवाद करना, उनके लिए अपमान-जनक शब्दों का प्रयोग करना, देव-आशातना है। जैन-धर्म कहता है कि न तो देवों के गुलाम एवं दास बनो और न ही उनको बुरा कहो, अपनी धर्म-साधना में संलग्न रहना ही साधक का कर्त्तव्य है।

10. **देवीणं आसायणाए**–देवियों की आशातना भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि देवियां भी देवों की तरह ही सम्माननीय होती हैं।

11. **इहलोगस्स आसायणाए**–जिस दृश्यमान जगत् में हम रह रहे हैं, इस लोक की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणाओं का प्रचार करना–जैसे कि कोई इसे ईश्वर-कृत मानता है, कुछ इसकी उत्पत्ति अण्डे से हुई मानते हैं, कोई कहता है इसका निर्माण ब्रह्मा ने किया है, कोई विष्णु को इसका रचयिता मानता है, कुछ दैवी शक्ति

से सृष्टि का निर्माण स्वीकार करते हैं—ऐसी जो अनेक धारणाएं इस लोक के सम्बन्ध में प्रचलित हैं, उन्हें सत्य स्वीकारना, या शून्यवाद को मानना और यह कहना कि वास्तव में यह दृश्यमान जगत केवल स्वप्नोपम है, जैसे स्वप्न में सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं है, वैसे ही जगत् भी शून्य ही है, भ्रान्ति ही है। इन भ्रान्तियों को भ्रान्ति न मानना आदि इह-लोक की आशातना है। इससे भी निवृत्त होना साधक का परम कर्तव्य है।

12. **पर-लोगस्स आसायणाए**—पांच तत्त्वों के योग से चेतना की उत्पत्ति और उनके वियुक्त होने से चेतना का विनाश होता है, यह कहकर पुनर्जन्म को न मानना, चार्वाक् एवं बौद्धों के क्षणिकवाद का अनुसरण करके पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानने से इन्कार करना, परलोक की आशातना है।

   जैसे नदी के किनारे पर खड़े हुए व्यक्तियों के लिए आर भी है और पार भी। जिस तट पर मानव खड़ा है, वह आर, उसकी अपेक्षा दूसरा तट पार है। वैसे ही मनुष्य की अपेक्षा नारक, तिर्यञ्च और देव परलोक हैं तथा अपने जन्म की अपेक्षा यह लोक इहलोक है। सभी जीव स्वजाति की अपेक्षा इहलोक हैं, परजाति की अपेक्षा परलोक हैं। अतः दोनों के अस्तित्व को न मानना या विपरीत मानना उभयलोक-आशातना है।

13. **केवली-पन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणाए**—केवली-भाषित धर्म का परिहास करना, उसे न मानना, उसका अवर्णवाद करना, जिन-धर्म की स्तुति के स्थान में उसकी निन्दा करना, उसकी आशातना है। इससे जीव दुर्लभ-बोधि बनता है, अतः इस आशातना से भी निवृत्त होना आवश्यक है।

14. **सदेव-मणुआऽसुरस्स लोगस्स आसायणाए**—देवलोक, असुरलोक और मनुष्य-लोक को न मानना या विपरीत रीति से मानना, आगमों में लोक के संदर्भ में जो वर्णन प्राप्त होता है उसे गप्प या मिथ्या मानना, तीन लोक को मिथ्या प्रमाणित करना आशातना है। इस नास्तिकपन से भी निवृत्त होना साधक के लिये आवश्यक है।

15. **सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्ताणं आसायणाए**—यद्यपि-प्राणी, भूत, जीव और सत्व आदि शब्दों को पर्यायवाची माना गया है, तथापि आचार्यों ने इन शब्दों के कुछ विशेष अर्थ भी स्वीकार किये हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय त्रस जीवों को प्राणी, सूक्ष्म-स्थूल वनस्पति-काय को भूत, पञ्चेन्द्रिय संज्ञी और असंज्ञी सभी को जीव और पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय इनको सत्व कहा जाता है। इनमें सभी संसारी जीवों का समावेश हो जाता है। इनकी सत्ता को स्वीकार न करना, इन की हिंसा करना, इन्हें परितापना देना, इनसे द्वेष करना आशातना है।

16. **कालस्स आसायणाए**—संयमी जीवन की अनियमितता काल की आशातना है, अथवा पल्योपम, सागरोपम, अवसर्पिणी-काल, उत्सर्पिणी-काल, काल-चक्र और पुद्‌गल-परावर्तन रूप काल को न मानना, काल की आशातना है। इससे निवृत्त होना आस्तिकता है।

17. **सुअस्स आसायणाए**—श्रुत की आशातना से निवृत्त होना भी अनिवार्य है। श्रुतज्ञान आत्मोत्थान में असाधारण कारण है। इस ज्ञान को तीसरा नेत्र भी कह सकते हैं। श्रुत का सम्बन्ध चारित्र से है। जो श्रुत की आशातना करता है, वह चारित्र की भी आशातना करता है। श्रुतज्ञान का अपलाप करना, आशातना है। श्रुत की अवहेलना एवं निन्दा करने से जीव दुर्लभबोधि बनता है।

18. **सुअदेवयाणं आसायणाए**—तीर्थंकर और गणधर श्रुतदेवता माने जाते हैं, अथवा श्रुतकेवली भी श्रुत-देवता हैं। शासन-अधिष्ठात्री देवी, सरस्वती देवी या सोलह विद्यादेवियां लगभग इन सबका समावेश श्रुत देवताओं में हो जाता है, क्योंकि 'सुअदेवयाणं' यह पद बहुवचनान्त है।

19. **वायणायरियस्स आसायणाए**—उपाध्याय की देखरेख में जो शिष्यों को पढ़ाता है वह वाचनाचार्य कहलाता है। वाचनाचार्य की आशातना भी हानिकारक है। वाचनाचार्य का मान-सम्मान न करना, विनय-भक्ति-सेवा आदि न करना, उनके कहे अनुसार अध्ययन

न करना उनकी आशातना है, इससे निवृत्त होना भी साधक का परम-कर्त्तव्य है।

20. **जं वाइद्धं**–सूत्र पाठ को आगे-पीछे बोलना आशातना है।

21. **वच्चामेलियं**–अन्य शास्त्र का पाठ दूसरे शास्त्र के साथ मिलाकर बोलना आशातना है।

22. **हीणक्खरं**–अक्षर छोड़कर शास्त्र-पाठ पढ़ना आशातना है।

23. **अच्चक्खरं**–अपनी ओर से अक्षर बढ़ा कर शास्त्र पढ़ना आशातना है।

24. **पयहीणं**–पद छोड़ कर शास्त्र पढ़ना आशातना है।

(ये पांच आशातनाएं शब्दों के अशुद्ध उच्चारण से संबंधित हैं)

25. **विणयहीणं**–श्रद्धा एवं विनय से हीन पढ़ना आशातना है।

26. **जोगहीणं**–उपयोग के बिना पढ़ना, उपधान तप के बिना स्वाध्याय करना आशातना है। मन, वाणी और काय के व्यापार को योग कहते हैं। हीन-योग से स्वाध्याय करना योगहीन आशातना है।

(ये दो आशातनाएं श्रद्धाहीन एवं अविनीत को लगती हैं)

27. **घोसहीणं**–समुचित स्वर-लहरी के साथ सूत्र का उच्चारण न करना आशातना है।

28. **सुट्ठुदिन्नं**–सुयोग्य शिष्य को यथाविधि ज्ञान-दान न देना और अल्प-बुद्धि शिष्य को अधिक अध्ययन करा देना भी आशातना है।

29. **दुट्ठु पडिच्छियं**–बुरे भाव से या कपट से ज्ञान ग्रहण करना आशातना है।

30. **अकाले कओ सज्झाओ**–अकाल में स्वाध्याय करना आशातना है।

31. **काले न कओ सज्झाओ**–समय पर स्वाध्याय न करना आशातना है।

32. **असज्झाइए सज्झायं**–अनध्यायकाल में स्वाध्याय करना आशातना है।

33. **सज्झाइए न सज्झाइयं**–स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय न करना आशातना है।

समवायांग सूत्र में तैंतीस आशातनाओं के अन्य रूप भी प्रदर्शित किये गए हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. बड़े साधु के आगे छोटे साधु का चलना।
2. बड़े साधु के बराबर छोटे साधु का चलना।
3. बड़े साधु के पीछे छोटे साधु का सट कर चलना।
4. छोटे साधु का बड़े साधु के आगे खड़े रहना।
5. छोटे साधु का बड़े साधु के बराबर खड़े होना।
6. छोटे साधु का बड़े साधु के पीछे सट कर खड़े रहना।
7. बड़े साधु के आगे छोटे साधु का बैठना।
8. बड़े साधु के बराबर छोटे साधु का बैठना।
9. बड़े साधु के पीछे सट कर छोटे साधु का बैठना।
10. छोटे साधु का बड़े साधु से पहले शुचि लेना।
11. उपाश्रय में आकर छोटे साधु का बड़े साधु से पहले गमना-गमन की आलोचना करना।
12. बड़े साधु जिससे बात करना चाहते हैं, उससे पहले छोटे साधु का वार्तालाप करना।
13. गुरु के द्वारा पूछे जाने पर 'कौन सो रहा है और कौन जाग रहा है?' छोटे साधु का जागते हुए भी उत्तर न देना।
14. भिक्षा लाने के अनन्तर उपाश्रय में पहले छोटे साधु के पास आलोचना करना, फिर बड़े के पास (मैं गृहस्थ के अमुक-अमुक घर फर्स के आया हूं, अथवा मैं अमुक-अमुक वस्तु अमुक-अमुक घर से लाया हूं)।
15. गृहस्थ के घर से आहार लाकर पहले छोटे साधु को दिखाना फिर बड़े साधु को दिखाना।

16. भिक्षा लाने के अनन्तर पहले छोटे साधु को निमंत्रित करना, फिर गुरु को निमन्त्रित करना।

17. आहार लाने के बाद गुरु को बिना पूछे सरस आहार अपने प्रिय संतों को बांट देना।

18. गुरु शिष्य दोनों के द्वारा सम्मितपात्र में आहार करते समय सरस आहार ग्रहण करने में शिष्य द्वारा उतावली करना।

19. गुरु के बुलाने एवं संबोधित करने पर गुरुवचनों को सुन कर भी अनसुना कर देना।

20. गुरु के द्वारा बुलाने पर अपने स्थान में बैठे-बैठे उत्तर देना।

21. गुरु को अनादर भाव से कुछ कहना, जैसे 'क्या कह रहे हो?'

22. बड़े साधु को 'तू' कहना।

23. गुरु ने प्रेरणा की कि 'सेवा क्यों नहीं करते' तब यदि शिष्य उत्तर देता है कि 'आप खुद क्यों नहीं कर लेते हैं? या गुरु ने कहा 'तू बड़ा आलसी है।' शिष्य ने कहा–'बड़े आलसी तो तुम्हीं हो।" इस प्रकार गुरु के शब्द पकड़ कर गुरु की अवज्ञा करना।

24. अपमान पूर्ण शब्दों से बड़ों को सम्बोधित करना।

25. गुरुजन व्याख्यान करते हों तब यह कहना कि 'जैसे तुम कहते हो वैसे नहीं, किन्तु यह बात तो इस प्रकार है।'

26. गुरु व्याख्यान कर रहे हों, तब 'आप भूल रहे हो,' ऐसा कहना।

27. गुरु के व्याख्यान में अन्य-मनस्क होना।

28. गुरु के व्याख्यान में ही परिषद्-भंग कर देना।

29. गुरु के व्याख्यान के बीच में विघ्न उपस्थित कर देना।

30. गुरु के व्याख्यान को नीरस एवं फीका बनाने का प्रयत्न करना।

31. बड़ों के शरीर या उनके उपकरणों को पैर आदि द्वारा संघट्टा लग जाने से–विनम्रतापूर्वक क्षमा-याचना न करना।

32. बड़े साधु के बिछौने पर या पट्टे पर खड़े होना, बैठना या सोना।

33. बड़े साधु से ऊंचे आसन पर खड़े होना, बैठना या सोना।
आशातनाओं के उपर्युक्त सभी भेदों से निवृत्त होने की साधना करना भी "आशातना–प्रतिक्रमण" है।

45. पिण्डैषणा के सात भेद

पिंड शब्द अनेक अर्थों का बोधक है, जैसे कि–पंजाबी भाषा में पिंड का अर्थ है–गांव। वैदिक परम्परा में पितरों को अर्पित किये जाने वाले आटे के गोले को पिण्ड कहा जाता है। पिण्ड शब्द के ठोस, गोला, शरीर, भोजन आदि अर्थ भी होते हैं।

जैनागमों में अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य रूप सात्विक आहार के अविभक्त रूप को पिण्ड कहा जाता है। 42 दोषों से बच कर निर्दोष आहार की अन्वेषणा करना ही पिण्डैषणा है। इसके सात भेद हैं–

1. **असंसठ्टा**–साधु प्रतिज्ञा करता है कि–भिक्षा देनेवाले के हाथ शुद्ध हों, कड़छी, कटोरी आदि भी शुद्ध हों, सचित्त पदार्थों के संसर्ग से रहित हों। यदि कोई गृहस्थ ऐसा सूझता आहार पानी देगा तो मैं भिक्षा ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं।
2. **संसठ्टा**–भिक्षा देने वाले के हाथ, भिक्षा देने के बर्तन–कड़छी आदि अन्न आदि के संसर्ग वाले होने पर उनके द्वारा सूझता एवं कल्पनीय आहार–पानी गृहस्थ दे तो मैं भिक्षा ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं–ऐसी प्रतिज्ञा धारण करना।
3. **उद्धडा**–हांडी, बटलोई, पतीली आदि बर्तनों से बाहर निकाला हुआ भोजन सूझता एवं कल्पनीय यदि कोई देगा तो मैं वही लूंगा–ऐसी प्रतिज्ञा धारण करना।
4. **अप्पलेवा**–दूध, घी, मक्खन, तेल, दही, खांड–गुड़ आदि के लेप से रहित भुंजे हुए दाने या शुष्क रोटी–बिना किसी लेप के रोटी आदि या पात्र में किसी तरह का लेप न लगे ऐसी कोई वस्तु लेने की प्रतिज्ञा करना।

5. **उग्गहीया**–गृहस्थ ने अपने खाने के लिए थाली आदि में जो भोजन रखा हुआ है, उसमें से यदि वह देना चाहेगा तो लूंगा, अन्यथा नहीं, ऐसी प्रतिज्ञा करके गोचरी के लिए जाना।

6. **पग्गहीया**–गृहस्थ ने जो भोजन अपने या दूसरे के लिये थाली में परोसा है, उसमें से यदि कोई देना चाहेगा तो लूंगा। अन्यथा नहीं–ऐसी प्रतिज्ञा करके गोचरी के लिए जाना।

7. **उज्झित-धर्मा**–जिस भोजन को कोई भी लेना पसन्द नहीं करता, अथवा सबके खाने के बाद बचा हुआ भोजन यदि मुझे मिलेगा तो लूंगा, अन्यथा नहीं–ऐसी प्रतिज्ञा करके गोचरी करने जाना।

46. गोचरी के 42 दोष

(क) गवेषणा के 16 उद्गम दोष

इन उद्गम दोषों का निमित्त गृहस्थ होता है।

1. **आधाकर्म**–साधु का उद्देश्य रखकर भोजन बनाना।
2. **औद्देशिक**–सामान्य याचकों के उद्देश्य से भोजन बनाना।
3. **पूति-कर्म**–शुद्ध आहार को आधाकर्मादि से मिश्रित कर देना।
4. **मिश्र-जात**–अपने और साधु के लिए एक साथ भोजन बनाना।
5. **स्थापन**–साधु के लिए दुग्ध-पानी आदि अलग रख देना।
6. **प्राभृतिका**–साधु को पास के ग्रामादि में आया जानकर विशिष्ट आहार बहराने के लिए जीमणवार (सामूहिक भोजन) आदि का दिन आगे-पीछे कर देना।
7. **प्रादुष्करण**–अन्धकार युक्त स्थान में दीपक आदि का प्रकाश करके भोजन देना।
8. **क्रीत**–साधु के लिये भोज्य पदार्थ खरीद कर लाना।
9. **प्रामित्य**–साधु के लिए उधार लेकर भोज्य पदार्थ लाना।
10. **परिवर्तित**–साधु के उद्देश्य से कोई वस्तु देकर उसके बदले दूसरी वस्तु लाना।

11. **अभिहृत**–साधु के लिए उपाश्रय में लाकर आहार देना।

12. **उद्‌भिन्न**–साधु के लिए लिप्य-पात्र का मुख खोलकर घृत आदि देना।

13. **मालापहृत**–ऊपर की मञ्जिल या छींके बगैरह या सीढ़ी आदि से उतार कर देना।

14. **आच्छेद्य**–दुर्बल से छीन कर देना।

15. **अनिसृष्ट**–साझे की चीज दूसरों की आज्ञा के बिना देना।

16. **अध्यवपूरक**–साधु को गांव में आया जानकर अपने लिए बनाये जाने वाले भोजन में और वृद्धि कर देना।[1]

(ख) गवेषणा के 16 उत्पादन दोष

ये उत्पादन दोष साधु की ओर से लगते हैं। इनका निमित्त साधु ही होता है।

1. **धात्री**–धाय की तरह गृहस्थ के बालकों को खिला-पिला कर हंसी-मजाक कर आहार लेना।
2. **दूती**–दूत के समान सन्देश-वाहक बन कर आहार लेना।
3. **निमित्त**–शुभाशुभ निमित्त बता कर आहार लेना।
4. **आजीव**–आहार के लिए जाति, कुल आदि बताना।
5. **वनीपक**–गृहस्थ की प्रशंसा करके उससे भिक्षा लेना।
6. **चिकित्सा**–औषधि आदि बताकर आहार लेना।
7. **क्रोध**–क्रोध करके या शापादि का भय दिखाकर आहार लेना।
8. **मान**–अभिमान से प्रभुत्व जमाते हुए आहार लेना।
9. **माया**–छल-कपट से आहार लेना।
10. **लोभ**–सरस भिक्षा के लिए अधिक घूमना।

---

1. आहाकम्मुद्देसिय पूईकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओयर कीय पामिच्चे।।1।।
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्न मालोहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे।।2।।

11. **पूर्वपश्चात्संस्तव**–दान–दाता के माता–पिता अथवा सास–ससुर आदि से अपना परिचय बता कर भिक्षा लेना।

12. **विद्या**–जप आदि से सिद्ध होने वाली विद्या का प्रयोग करके भिक्षा लेना।

13. **मन्त्र**–मन्त्र–प्रयोग से आहार लेना।

14. **चूर्ण**–वशीकरण–चूर्ण आदि का प्रयोग करके आहार लेना।

15. **योग**–योग–विद्या की सिद्धियों का प्रदर्शन करके भोजन ग्रहण करना।

16. **मूलकर्म**–गर्भस्तम्भ आदि के प्रयोग बता कर आहार ग्रहण करना।[1]

(ग) ग्रहणैषणा के दस दोष

गृहस्थ तथा साधु दोनों के निमित्त से लगने वाले दोष, ग्रहणैषणा के दोष कहलाते हैं।

1. **शंकित**–आधाकर्मादि दोषों की शंका होने पर भी आहार ग्रहण कर लेना।
2. **म्रक्षित**–सचित्त वस्तुओं का संघट्टा होने पर भी आहार ग्रहण कर लेना।
3. **निक्षिप्त**–सचित्त पदार्थ पर रक्खा हुआ आहार लेना।
4. **पिहित**–सचित्त पदार्थ से ढका हुआ आहार ग्रहण कर लेना।
5. **संहृत**–पात्र में पहले से रक्खे हुए अकल्पनीय पदार्थ को निकाल कर उसी पात्र से आहार–पानी देना।
6. **दायक**–शराबी, गर्भिणी आदि अनधिकारी से आहार–पानी लेना।
7. **उन्मिश्र**–सचित्त पदार्थों से मिश्रित आहार लेना।
8. **अपरिणत**–पूरे तौर पर पके बिना शाकादि का ग्रहण कर लेना।

1. धाई दूई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए।।1।।
पुव्विं पच्छासंथवे विज्जा मंते य चुण्ण जोगे य।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य।।2।।

9. **लिप्त**–दही, घृत आदि से लिप्त होने वाले पात्र या हाथ से आहार लेना। पहले या पीछे धोने के कारण पुर:कर्म तथा पश्चात्कर्म दोष होता है।

10. **छर्दित**–जिसके छींटे नीचे पड़ रहे हों, ऐसा आहार लेना।[1]

47. ग्रासैषणा के पांच दोष[2]

मांडले पर बैठकर भोजन करते हुए लगने वाले दोषों को ग्रासैषणा दोष कहा जाता है।

1. **संयोजना**–दूध-दही-खांड आदि पदार्थों को रसलोलुप होकर मिलाना।
2. **अप्रमाण**–आवश्यकता से अधिक आहार-पानी ग्रहण करना।
3. **अङ्गार**–भोजन के स्वाद की प्रशंसा करते हुए खाना। साधु के चारित्र को अंगार के समान जला देने वाला होने के कारण इस दोष को अंगार कहा गया है।
4. **धूम**–नीरस आहार को अरुचि-पूर्वक एवं उसकी निन्दा करते हुए खाना।
5. **अकारण**–शारीरिक पुष्टि के उद्देश्य से आहार ग्रहण करना।

48. आहार ग्रहण करने के छह कारण[3]

1. **वेदना**–क्षुधा जन्य पीड़ा की निवृत्ति के लिये।
2. **वैयावृत्य**–शरीर को सेवा के योग्य बनाने के लिये।
3. **ईर्यापथ**–गमनागमन के योग्य शक्ति की प्राप्ति के लिए।
4. **संयम**–संयम-पालनार्थ शक्ति की प्राप्ति के लिये।
5. **प्राण-प्रत्ययार्थ**–प्राणों की रक्षा के लिये, संयमी जीवन जीने के लिये।
6. **धर्म-चिन्ता**–धर्म कृत्य-स्वाध्याय ध्यान आदि की पूर्ति के लिये।

---

1. संकिय मक्खिय निक्खित्त, पिहिय साहरिय दायगुंम्मीसे।
   अपरिणय लित्त छड्डिय, एसण दोसा दस हवन्ति।।
2. संजोयणाऽपमाणे, इंगाले धूमऽकारणे चैव।
3. वेयण-वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
   तह पाण-वत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए।।–उत्तरा० 26/33

भाव प्रतिक्रमण

अरिहंत परमात्मा श्री सीमंधर स्वामी प्रभो! मेरा स्वरूप अनाहारक है तो भी मैंने सचित्त, अचित्त, मिश्र आहार किया, कराया, अनुमोदन किया, इस भव, परभव और अनंत भवों में आहार के प्रति मैं लुब्ध हुआ। मैंने भोजन में किंचित् मात्र रस लिया। भोजन को लेकर कोई क्रिया-प्रतिक्रिया की, करायी, करने वाले का अनुमोदन किया। उसके लिए मैं अन्तःकरण से क्षमा मांगता हूं, आप मुझे क्षमा करें! क्षमा करें! क्षमा करें!

इस शरीर में रहते हुए मैंने एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की हिंसा की, करायी, उसका अनुमोदन किया। झूठ बोला, बुलवाया या बोलते हुए का अनुमोदन किया। चोरी की, करायी या उसका अनुमोदन किया। मैथुन सेवा, सेवाया, या सेवते हुए का अनुमोदन किया। मैंने परिग्रह रखा, रखवाया या उसका अनुमोदन किया तो मैं उन समस्त कर्मों की आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त करता हूं। इस शरीर के द्वारा मैंने कषायों का सेवन किया। क्रोध, मान, माया, लोभ स्वयं किया, कराया या करने वाले का अनुमोदन किया तो उसके लिए भी मैं आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त करता हूं।

प्रभो! मैंने अपने मुख से परपीड़ाकारी वचन बोले तो उसके लिए मैं आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त करता हूं। आज दिवस भर में चौरासी लाख जीवयोनी में किसी जीव को उठते-बैठते, हिलते-चलते दुःख दिया हो या उसकी हिंसा की हो तो उसके लिए आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त करता हूं। उपरोक्त सभी कर्म मेरे इस देह ने किए। मेरा स्वभाव केवल ज्ञाता-द्रष्टा है। सम्पूर्ण दिवस में मैं स्वभाव से विभाव में गया हूं तो आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त करता हूं। दिन-भर में कहीं पर भी मेरा भेद-विज्ञान छूट गया हो तो उसके लिए मैं आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त करता हूं।

प्रभो! मैंने किसी की निन्दा की, करायी या उसका अनुमोदन किया हो। नींद में, प्रमाद में, स्वप्न में, स्वप्न के 108 दोषों में जहां कहीं भी कर्म बंधन हुआ हो उसके लिए मैं अन्त:करण से क्षमा मांगता हूं। आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त करता हूं।

सुबह से लेकर अभी तक जो-जो भी कर्म किया, वह सारा इस विनाशी शरीर ने किया। समस्त कर्म को ज्ञाता व द्रष्टा भाव से आत्मा की साक्षी में स्वयं से भिन्न करता हूं। जो कुछ भी किया, कराया, अनुमोदन किया, मन से, वचन से, काया से वह सब कुछ इस शरीर ने किया, मैं सिर्फ एक शुद्धात्मा हूं। मैंने कर्म करते हुए कर्ताभाव लाया हो तो उसके लिए मैं आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त करता हूं। प्रभो! मुझे क्षमा करें! क्षमा करें! क्षमा करें!

समाधि–भावना

मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य वीतरागो ददातु मे।
समाधिबोधिपाथेयं यावन् मुक्तिपुरो पुरः॥1॥

मैं (समाधि–मरण द्वारा) मृत्यु में प्रवृत्त हुआ हूं। इस मार्ग को सुखपूर्वक पार कर सकूं, इसके लिये भगवान् वीतरागदेव समाधि तथा बोधि एवं परलोकपथ में उपकारक पाथेय प्रदान करें, जिससे मैं मुक्तिपुरी को पहुंच सकूं।

कृमिजालशताकीर्णे जर्जरे देहपंजरे।
भज्यमाने न भेतव्यं यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः॥2॥

हे आत्मन्! शत–शत कृमियों से भरा हुआ, जर्जर शरीर रूप यह पिञ्जरा टूट रहा है, इस से तुम भयभीत न होओ, क्योंकि तुम ज्ञानरूप हो।

ज्ञानिन्! भयं भवेत् कस्मात् प्राप्ते मृत्युमहोत्सवे।
स्वरूपस्थः पुरं याति देही देहान्तर–स्थितिः॥3॥

हे ज्ञानी आत्मन्! मृत्युमहोत्सव के उपस्थित होने पर तुम किस बात का भय करते हो? यह आत्मा अपने स्वरूप में स्थित रहता हुआ एक देह से दूसरे देह में जाता है। इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

सुदत्तं प्राप्यते यस्माद् दृश्यते पूर्वसत्तमैः।
भुज्यते स्वर्भवं सौख्यं मृत्योर्भीतिः कुतः सताम्॥4॥

पूर्वकाल के ऋषि और गणधर आदि सत्पुरुष ऐसा कहते हैं कि अपने किये हुए कर्तव्य तथा चरित्र का फल तो मृत्यु होने पर ही पाया जाता है। स्वर्गसुखों का भोग भी मृत्यु के अनन्तर ही मिलता है, अतः सत्पुरुष मृत्यु से भयभीत नहीं हो सकते।

श्री ऑल इंडिया श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेंस
नई दिल्ली
के अंतर्गत संचालित सेवारत योजनाएँ

- जीवन प्रकाश योजना

- मानव सेवा योजना

- जीव दया योजना

- ज्ञान प्रकाश योजना

- वैय्यावच्च योजना

- अल्पसंख्यक योजना

- विहारधाम योजना

श्रुत-संवर्धन समिति के उद्देश्य

- स्थानकवासी परम्परा के प्राचीन जैन पाण्डुलिपि-भण्डारों का वर्गीकरण, केन्द्रीय रूप से संग्रहण-संरक्षण, सूचिकरण एवं डिजिटाइजेशन करना तथा केन्द्रीय अभिलेखागार की स्थापना करना।

- स्थानकवासी परम्परा के मान्य आगमों एवं साहित्य का प्रकाशन, वितरण एवं केन्द्रीय रूप से सन्दर्भ पुस्तकालय समायोजित करना।

- साधु एवं श्रावकों के उपयोगी धार्मिक उपकरणों व स्थानकवासी जैन साहित्य की केन्द्रीय कार्यालय पर उपलब्धता एवं राष्ट्र स्तर पर वितरण।

श्रुत-संवर्धन समिति
नई दिल्ली